भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस

मेरे गुरुदेव

(श्री स्वामी विवेकानन्द द्वारा न्यूयार्क में दिया हुआ भाषण)

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा है—

"जब जब धर्म का ह्रास होता है तथा अधर्म की बढ़ती होती है तब तब मनुष्य जाति के उद्धार के निमित्त मैं अवतार लेता हूँ।"*

जब कभी हमारे इस संसार में क्रमागत परिवर्तन तथा नूतन परिस्थितियों के कारण नवीन सामाजिक सामञ्जस्य की आवश्यकता होती है उस समय एक शक्तितरंग आती है और मनुष्य के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक क्षेत्रों में विचरण करने के कारण इन दोनों क्षेत्रों में उस समन्वय-शक्ति का प्रभाव पड़ता है। एक ओर भौतिक क्षेत्र में आधुनिक समय में प्रधानतः योरोप ने ही सामञ्जस्य किया है और दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र में सारे संसार के इतिहास में एशिया ही इसका मुख्य आधार रहा है।

आज आध्यात्मिक क्षेत्र में समन्वय की पुनः आवश्यकता है— आज, जब कि जड़वाद अपनी शक्ति तथा कीर्ति के शिखर पर है तथा जब यह सम्भव हो रहा है कि मनुष्य जड़ वस्तुओं पर अधिकाधिक

---

* "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"
गीता ४।७

अवलम्बित रहने से अपनी दैवी प्रकृति भूलकर केवल धनोपार्जन का एक यंत्र मात्र ही बन जाए, समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। ऐसे अवसर के लिए ईश्वर-वाणी हो चुकी है और ऐसी दैवी शक्ति का आगमन हो रहा है जो बढ़ते हुए जड़वाद रूपी मेघों को तितरबितर कर देगी। ऐसी शक्ति का आरम्भ हो चुका है और यह शक्ति ही मानव-जाति में उसकी वास्तविक प्रकृति की स्मृति का संचार कर देगी; और वह स्थान जहाँ से इस शक्ति का प्रारम्भ होगा फिर एशिया ही होगा। हमारा यह संसार श्रम-विभाग की प्रणाली पर अवलम्बित है। यह कहना व्यर्थ है कि एक ही मनुष्य प्रत्येक वस्तु का अधिकारी होगा, परन्तु फिर भी एक बच्चे के समान हम कैसे अनजान हैं।

अज्ञानवश एक बच्चा यही सोचता है कि समस्त संसार में वांछनीय वस्तु केवल उसकी गुड़िया ही है। इसी प्रकार एक जाति जो आधिभौतिक शक्ति में श्रेष्ठ है, सोचती है कि इस संसार में यदि कोई वस्तु अमूल्य एवं प्राप्त करने योग्य है तो वह आधिभौतिक शक्ति ही है तथा उन्नति एवं सभ्यता का अर्थ इसके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं, और यदि कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो इसकी परवाह नहीं करतीं तथा जिनके पास यह शक्ति नहीं है तो वे टिकने योग्य नहीं हैं—उनका सारा अस्तित्व ही सर्वथा निरर्थक है। परन्तु दूसरी ओर एक जाति के विचार ये भी हो सकते हैं कि केवल जड़-सभ्यता ही नितान्त निरर्थक है और ऐसी वाणी प्राच्य देश से ही उठी जिसने एक समय सारे संसार को यह बतला दिया कि किसी मनुष्य के पास यदि संसार

की सारी सम्पत्ति है परन्तु आध्यात्मिक शक्ति नहीं, तो वह सब किस काम का? यही भाव प्राच्य का है और इसके विरुद्ध दूसरा पाश्चात्य का।

ये दोनों ही भाव महत्त्वपूर्ण तथा गौरवयुक्त हैं। यह समन्वय इन दोनों भावों का मिश्रण स्वरूप होगा आर होगा उनका सामञ्जस्य। पाश्चात्य को इन्द्रियग्राह्य जगत् जितना सत्य है उतना ही प्राच्य के लिए आध्यात्मिक जगत् है। अध्यात्म में प्राच्य को जो कुछ वह चाहता है या जिसकी वह आशा करता है, मिल जाता है—जो कुछ जीवन को सत्य बनाता है वह भी उसे इसमें मिल जाता है। पाश्चात्य के लिए प्राच्य स्वप्नसृष्टि में ही विचरण करने वाला दिखता है तथा प्राच्य भी पाश्चात्य को वैसा ही देखता है और सोचता है कि यह तो केवल नाशवान खिलौने से ही खेल रहा है और यह विचार कर हँसता है कि बड़े बूढ़े पुरुष तथा स्त्रियाँ एक मुट्ठी भर ऐहिक वस्तु के सम्बन्ध में, जिसको कि आगे पीछे उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा, कितना तिल का ताड़ करते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों एक दूसरे को स्वप्नसृष्टि में विचरण करने वाले समझते हैं। परन्तु प्राच्य ध्येय मानवजाति की उन्नति के लिए उतना ही आवश्यक है कि जितना कि पाश्चात्य—और मैं सोचता हूँ कि शायद अधिक ही। मशीनों ने मनुष्यजाति को कभी सुखी नहीं बनाया और न बना सकेंगी। जो हमें इस बात का विश्वास दिलाने का यत्न कर रहा है वह यही कहेगा कि सुख मशीनों में ही है, परन्तु है यह सदा मन में ही। केवल वही मनुष्य जो अपने मन का स्वामी है, सुखी हो सकता है—दूसरा नहीं। और आखिर यह मशीन की शक्ति है ही क्या?

यदि कोई मनुष्य बिजली के तार द्वारा विद्युत्धारा (Electric Current) भेज सकता है तो उसे हम एक बड़ा तथा बुद्धिमान मनुष्य क्यों कहें—क्या प्रकृति उससे कई लाख गुना कार्य प्रत्येक क्षण नहीं करती रहती है ? अतः हम प्रकृति के ही चरणों पर गिरकर उसकी ही पूजा क्यों न करें ? यदि आपकी शक्ति विश्व भर पर है तथा यदि आपने विश्व के प्रत्येक परमाणु को वश में कर भी लिया तो क्या हुआ ? जब तक आनन्द की शक्ति स्वयं आप में नहीं है तथा जब तक आपने स्वयं को जीत नहीं लिया, भौतिक शक्ति आपको सुखी नहीं बना सकती। यह सत्य है कि मनुष्य का जन्म सृष्टि पर विजय प्राप्त करने के लिए हुआ है, परन्तु सृष्टि से पाश्चात्य का अर्थ है केवल भौतिक अथवा बाह्य सृष्टि। यह वास्तव में सत्य है कि बाह्य सृष्टि पहाड़ों, समुद्रों, नदियों तथा अपनी नाना प्रकार की एवं अनन्त शक्तियों द्वारा समन्वित, अत्यन्त विशाल है परन्तु फिर भी मनुष्य की अन्तःसृष्टि इससे भी विशाल है। यह सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रादि से भी उच्च है, हमारी इस पृथ्वी से भी उच्च है, स्थूल विश्व से भी उच्च है और हमारे इन छोटे-छोटे जीवनों से भी अतीत है तथा यह अन्तःसृष्टि मनुष्य के अध्ययन के लिए एक नया क्षेत्र ही है। यहीं पर प्राच्य आगे बढ़ जाते हैं जैसे बाह्य सृष्टि के विषय में पाश्चात्य। अतः यह ठीक ही है कि जब कभी आध्यात्मिक सामञ्जस्य की आवश्यकता होती है तो उसका आरम्भ प्राच्य से ही होता है। साथ ही साथ यह भी ठीक है कि जब कभी प्राच्य को मशीन बनाने के सम्बन्ध में सीखना हो तो वह पाश्चात्य के पास ही बैठकर उससे सीखे। परन्तु

जब पाश्चात्य ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा तथा विश्व के अर्थ एवं रहस्य सम्बन्धी बातों को जानना चाहे तो उसे प्राच्य के चरणों के समीप ही आना चाहिए ।

मैं तुम्हारे सम्मुख एक ऐसे महापुरुष के जीवन का वर्णन करूँगा जिन्होंने भारतवर्ष में इन गहन विषयों की एक तरंग प्रवाहित कर दी । परन्तु इनका चरित्र वर्णन करने के पूर्व मैं यह बतलाने का यत्न करूँगा कि भारतवर्ष का वैशिष्टय तथा भारतवर्ष का अर्थ क्या है । यदि ऐसे पुरुष भारतवर्ष को जाएँ—जिनकी आँखें नश्वर वस्तुओं की ऊपरी तड़क-भड़क से चौंधिया गई हैं, जिनका सारा जीवन खाने-पीने तथा चैन करने के निमित्त ही समर्पण हो चुका है, जिनकी सम्पत्ति का आदर्श केवल भू-प्रदेश तथा सुवर्ण ही है, जिनके सुख का आदर्श केवल इन्द्रियजन्य सुख ही है, जिनका ईश्वर केवल धन ही है, जिनके जीवन का ध्येय ऐश व आराम ही है और उसके अनन्तर मृत्यु, जिनकी बुद्धि दूरदर्शी नहीं और जो इन्द्रियों से जानी जा सकनेवाली वस्तुओं को छोड़कर, जिनके बीच में वे हमेशा पड़े रहते हैं, कोई उच्च बात शायद ही सोच सकते हों तो उन्हें वहाँ क्या दिखाई देगा ? प्रत्येक स्थान पर निर्धनता, जघन्यता, अन्धविश्वास, अज्ञान एवं बीभत्सता ही । प्रश्न उठता है कि यह क्यों ? कारण यह है कि उनकी समझ में सभ्यता का अर्थ है वेष-भूषा, शिक्षण तथा सामाजिक शिष्टाचार ! पाश्चात्य देशों ने अपनी ऐहिक उन्नति के लिए सब प्रकार से यत्न किया है परन्तु भारतवर्ष ने वैसा नहीं किया । सारे संसार भर में

केवल वहाँ ही ऐसे पुरुष रहते हैं जो मनुष्यजाति के सारे इतिहास में अपने देश की सीमा के बाहर कभी कोई दूसरे देशों को परास्त करने के लिए नहीं गये, जिन्होंने दूसरे की सम्पत्ति को कभी प्राप्त करने की इच्छा नहीं की और यदि कहा जाय तो केवल उनका 'अपराध' यही था कि उनकी भूमि बड़ी उपजाऊ थी और उन्होंने अपने हाथों कड़ी मेहनत करके धन इकट्ठा किया और इस प्रकार दूसरे राष्ट्रों को यह प्रलोभन दिया कि वे आकर उनके यहाँ लूट-मार करें। परन्तु फिर भी वे लुट जाने पर तथा 'जंगली' कहे जाने पर भी सन्तुष्ट हैं और उसके बदले में संसार में ईश्वरविषयक ज्ञान का प्रचार करना चाहते हैं, मानव प्रकृति के गुह्य रहस्य को संसार के सम्मुख स्पष्ट रूप से प्रकट करना चाहते हैं तथा उस पर्दे को हटा देना चाहते हैं जो मनुष्य के असली स्वरूप को छिपाये है। इस सब का कारण यह है कि वे माया के प्रचार को भलीभाँति जानते हैं तथा उन्हें यह भी ज्ञान है कि इस जड़ रूप के पीछे ही मनुष्य का सत्य तथा दैवी स्वरूप छिपा हुआ है और यह स्वरूप ऐसा है कि इसे न तो कोई पाप पतित कर सकता है, न कोई दुष्कर्म भ्रष्ट कर सकता है, न किसी वासना का इस पर रंग चढ़ सकता है, न इसे आग जला सकती है और न जल गीला कर सकता है, जो आँच से सूख नहीं सकती और न जिसे काल अपने गाल में डाल सकता है। उनके लिए मनुष्य का यह असली स्वरूप उतना ही वास्तविक है जितना किसी पाश्चात्य की इन्द्रियों के लिए कोई जड़ पदार्थ।

जिस प्रकार तुम शूरता से एक तोप के मुँह के सामने उड़ जाने के लिए कूद पड़ते हो तथा जैसे देशभक्ति से प्रेरित हो प्रोत्साहन के साथ अपने देश के लिए प्राण भी दे देते हो, उसी प्रकार भारतवासी ईश्वर के नाम पर अपना सर्वस्व अर्पण करने में शूर होते हैं। यह बात उसी देश में है कि यदि कोई पुरुष किसी को यह सुझा देता है कि यह संसार कल्पनामात्र है, केवल स्वप्नवत् है तो वह मनुष्य अपनी वेश-भूषा, धन-सम्पत्ति आदि, सब का त्यागकर यह दर्शा देता है कि जो कुछ वह विश्वास करता है तथा मन से सोचता है वह सब सत्य है। यह बात वहाँ ही है कि जब मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि यह जीवन अनन्त है तो वह एक नदी के किनारे जाकर बैठ जाता है और अपने शरीर को कुछ भी न समझकर उसका त्याग इस प्रकार से कर देना चाहता है जैसे हम तुम एक घास फूस का तिनका छोड़ देते हैं। उसी में उनका शूरत्व है कि वे मृत्यु का स्वागत एक भाई के समान करते हैं, क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मृत्यु वास्तव में उनके लिए नहीं है। इसी में वह शक्ति है जिसने इन्हें सैकड़ों वर्षों के विदेशियों के आक्रमण तथा अत्याचारों से भी अटल रखा। वह राष्ट्र आज भी है और उस राष्ट्र में घोर आपत्ति के दिनों में भी आत्मज्ञानी महापुरुषों का अवतार लेना कभी बन्द नहीं हुआ। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में बड़े बड़े राजनीतिज्ञों तथा वैज्ञानिकों का जन्म होता है उसी प्रकार एशिया में महान् आत्मज्ञानी पुरुष जन्म लेते हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ में जब कि पाश्चात्यों का प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ने लगा था

और जब विजयी पाश्चात्य अपने हाथों में तलवार लेकर यहाँ के ऋषिपुत्रों को यह सिखाने आये थे कि वे ऋषिपुत्र केवल जंगली थे, उनकी जाति खोखले ध्येय वालों की थी, उनका धर्म केवल काल्पनिक था तथा ईश्वर, आत्मा और प्रत्येक ऐसी वस्तु जिसको प्राप्त करने के लिए वे वर्षों से रगड़ रहे थें, केवल अर्थशून्य शब्द ही थे तथा उनका हजारों वर्ष का सर्वसंग-परित्याग व्यर्थ ही हुआ, तब तो विश्व-विद्यालयों के तरुण छात्रों के मन में यह संकल्प--विकल्प होने लगा कि कहीं उनका उस समय तक का सारा राष्ट्रीय प्रयत्न व्यर्थ ही तो नहीं गया, क्या उन्हें फिर पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर नये सिरे से यत्न करना चाहिए, अपने पुराने ग्रन्थों को फाड़ डालना चाहिए, प्राचीन तत्त्वज्ञान को जला डालना चाहिए, अपने धर्म-गुरुओं को मारकर भगा देना चाहिए तथा क्या अपने मन्दिरों को ढा देना चाहिए ? क्या पाश्चात्य विजयी ने जिसने अपने धर्म का प्रचार तलवार तथा बन्दूक की सहायता से किया यह नहीं सिखाया कि तुम्हारी प्राचीन धर्म-पद्धति केवल अन्धविश्वास एवं निर्जीव प्रतिमा-पूजन तक ही सीमित है ?

अतः जिन बच्चों ने इन नई शालाओं में शिक्षा-दीक्षा पाई वे पाश्चात्य पद्धति पर चल निकले और बचपन से ही इसके आदेशों में पग गये और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्राचीन पद्धति के सम्बन्ध में उनके मन में तर्क-वितर्क होने लगा। अन्धविश्वास को एक ओर हटाने तथा सत्य का अनुसन्धान करने की अपेक्षा

उनके लिए बस यही एक महावाक्य सत्य की कसौटी हो गया "इस सम्बन्ध में पाश्चात्य की क्या राय है ?"

"क्या धर्मगुरुओं को भगा देना चाहिए, वेदों को जला डालना चाहिए, क्योंकि पाश्चात्यों ने ऐसा कहा है।"—इस प्रकार की खलबली के भावों से भारतवर्ष में एक ऐसी लहर उठी जिसे हम 'सुधार' के नाम से पुकारते हैं।

यदि तुम एक सच्चे सुधारक होना चाहते हो तो तीन बातों की आवश्यकता है।

प्रथम तो यह कि तुम्हारा हृदय भावनाशील हो। क्या वास्तव में तुम्हारे हृदय में अपने भाइयों के लिए कसक है ? क्या तुम सचमुच में अनुभव करते हो कि संसार में क्लेश, अज्ञान तथा अन्ध-विश्वास है ? क्या सचमुच यह तुम्हारी धारणा है कि सब मनुष्य तुम्हारे भाई हैं ? क्या यह भावना तुम्हारे रोम रोम में व्याप्त है ? क्या यह तुम्हारे रक्त में प्रवाहित होती है ? क्या यह तुम्हारी प्रत्येक नस में फड़कती है और क्या इसका संचार तुम्हारे शरीर की प्रत्येक शिरा तथा तन्तु में होता है। क्या तुम सहानुभूति के विचारों से भरे हुए हो और हाँ, यदि तुम हो तो वह केवल प्रथम सीढ़ी है। दूसरी बात तुम्हें यह सोचनी चाहिए कि इस सब के लिए क्या तुमने कोई उपाय भी ढूँढ़ निकाला है, या नहीं। पुराने विचार चाहे अंधविश्वास पर ही निर्भर हों परन्तु इस अन्धविश्वास में भी स्वर्णमय सत्य के कण विद्यमान हैं। सब अनावश्यक बातों को छोड़कर केवल उस स्वर्ण

रूपी सत्य को पाने के लिए तुमने कोई भी उपाय सोचा है ? और यदि तुमने वैसा कर लिया है तो वह दूसरी सीढ़ी है। अब एक चीज़ की और आवश्यकता है और वह यह कि तुम्हारा उद्देश्य क्या है ? क्या तुम्हें इस बात पर पूरा विश्वास है कि तुम्हें सम्पत्ति का प्रलोभन नहीं है, कीर्ति की लालसा नहीं है तथा अधिकार की आकांक्षा नहीं है ? वास्तव में तुम्हें क्या विश्वास है कि चाहे सारा संसार भी तुम्हें नीचे गिराने की इच्छा करे तो भी तुम अपने ध्येय के अनुसार ही कार्य करोगे ? क्या तुम्हें यह विश्वास है कि जो कुछ तुम चाहते हो उसे भलीभाँति जानते हो और चाहे तुम्हारे प्राणों पर भी बाजी लगी हो तो भी तुम केवल अपना कर्म ही करते रहोगे ?

क्या तुम्हें अन्तःकरण से विश्वास है कि जब तक प्राण सह सकते हैं तथा जब तक तुम्हारे हृदय में धड़कन है तब तक तुम अपने उद्योग में निरन्तर भिड़े रहोगे ? यदि ऐसा है तो वास्तव में तुम एक सच्चे सुधारक, मार्ग-प्रदर्शक, गुरु एवं मनुष्यजाति के लिए वरदान स्वरूप हो। परन्तु मनुष्य कैसा उतावला तथा अदूरदर्शी है ! वह थोड़ा भी धीरज नहीं रखता और देखते हुए भी नहीं देखता है।* दूसरे पर सत्ता जमाने की उसकी इच्छा होती है और वह काम्य-फल की तुरन्त आकांक्षा करता है। ऐसा क्यों है ? वह कार्य के फल का आनन्द स्वयं लेना चाहता है और यथार्थ में दूसरों की परवाह नहीं करता। केवल कर्म के लिए ही वह कर्म करना नहीं चाहता।

---

* 'पश्यन्नपि न पश्यति'

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

'तुम्हें केवल कर्म करने का ही अधिकार है; कर्मफल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं ।'*

फिर कर्मफल में हम क्यों आसक्त हों ? केवल कर्म करना ही हमारा कर्तव्य है । कर्मफल के सम्बन्ध में हम तनिक भी चिन्ता क्यों करें ? परन्तु मनुष्य को धैर्य नहीं रहता । वह विचारपूर्वक न सोचकर मनमाना कोई भी काम करने लगता है । संसार के अधिकतर भावी सुधारक इसी श्रेणी में गिने जा सकते हैं ।

जैसा मैंने कहा है, भारतवर्ष में सुधार का विचार उस समय उत्पन्न हुआ जब ऐसा प्रतीत होता था कि मानो जड़वाद की तरंग, जिसने भारतवर्ष पर आक्रमण कर दिया था, इस देश के प्राचीन आर्य ऋषियों की संस्कृति एवं शिक्षा को बहा देगी । परन्तु यह राष्ट्र ऐसी हजारों विप्लव तरंगों की चोट सह चुका था और यह तरंग औरों की अपेक्षा हलकी ही थी—एक लहर के बाद दूसरी लहर ने आकर देश को अपने में डुबा लिया और सैकड़ों वर्षों तक ये लहरें देश को दबाती रहीं । तलवारें चमकीं और 'अल्लाहो अकबर' के नारे से भारतवर्ष का आकाश गूँज उठा । परन्तु धीरे-धीरे ये लहरें शान्त हो गईं और राष्ट्रीय ध्येय पूर्ववत् बने रहे ।

भारतीय राष्ट्र कभी नष्ट नहीं हो सकता । यह अमर है और उस समय तक टिका रहेगा जब तक आत्मबल इसकी रीढ़ है और

---

* 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।'

गीता, २।४७

जब तक इस राष्ट्र के पुत्र अपनी आध्यात्मिकता का त्याग नहीं कर देते। चाहे वे भिखारी रहें अथवा निर्धन, चाहे दारिद्रय से पीड़ित हों अथवा मैले और घिनौने हों परन्तु वे अपने ईश्वर का परित्याग कभी न करें और न यह भूलें कि वे ऋषिसंतान हैं। जिस प्रकार पाश्चात्य में कोई भी साधारण मनुष्य अपनी उत्पत्ति किसी मध्यकालीन डाकुओं के सरदार (Robber-Baron of Middle Ages) से ढूँढ़ निकालने का यत्न करता है उसी प्रकार भारतवर्ष में एक सिंहासनस्थ सम्राट् भी अपनी उत्पत्ति किसी एक अरण्यनिवासी वल्कल-वस्त्रधारी, जंगल के फलमूल खाने वाले तथा ईश्वरस्वरूप में लीन ऋषि से ढूँढ़ निकालने का यत्न करता है।

हम ऐसी ही उत्पत्ति का सम्बन्ध चाहते हैं और जब तक पवित्रता इस प्रकार परम पूज्य है, भारतवर्ष कभी नष्ट नहीं हो सकता।

शायद तुममें से बहुतों ने 'नाइनटीन्थ सेंचुरी' नामक पत्र के अभी हाल के एक अंक में प्रोफेसर मैक्समूलर* का लेख पढ़ा होगा जिसका शीर्षक था 'एक सच्चा महात्मा'। श्रीरामकृष्ण का जीवन मनोरंजक है, क्योंकि उनका जीवन उनके द्वारा प्रचार किये हुए उपदेशों का एक जीता जागता नमूना है। शायद यह तुम लोगों के लिए जो पश्चिम में एक ऐसे वातावरण में रहते हैं जो भारतवर्ष से बिलकुल भिन्न है, किसी अंश तक नया प्रतीत हो! तुम्हारे यहाँ

---

* एक बड़े जर्मन तत्त्ववेत्ता तथा संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित। इन्होंने प्राच्य संस्कृति का भी विशेष अध्ययन किया था।

अर्थात् पाश्चात्य में संलग्न जीवन का रहन-सहन भारतवर्ष के रहन-सहन से नितान्त भिन्न है। परन्तु फिर भी शायद यह विशेष मनोरंजक हो, क्योंकि इसमें बहुतसी ऐसी बातें नये दृष्टिकोण से देखी जायँगी जिनके विषय में तुम कुछ न कुछ पहले ही सुन चुके होगे।

यह उसी समय की बात है जब भारतवर्ष में बहुतसे नये सुधारों का आरम्भ हो रहा था कि एक निर्धन ब्राह्मण दम्पत्ति को १८ फरवरी सन् १८३६ को बंगाल के एक सुदूर गाँव में एक बालक पैदा हुआ। बालक के माँ-बाप दोनों ही शास्त्रमार्गावलम्बी एवं धर्मपरायण थे। वास्तव में पुरानी रीति के अनुसार चलने वाले धर्मपरायण ब्राह्मण का जीवन बड़े ही अखण्ड त्याग का होता है। वह बहुत गिने चुने उद्योग कर सकता है और इसके अतिरिक्त वह किसी लौकिक धन्धे से सम्बन्ध तक नहीं रख सकता। साथ ही साथ वह प्रत्येक का दिया हुआ दान भी ग्रहण नहीं कर सकता। तुम अनुमान कर सकते हो कि वह जीवन कैसा नियमबद्ध हो जाता होगा।

तुमने ब्राह्मणों तथा उनके पौरोहित्य सम्बन्धी कर्मों के बारे में बहुधा सुना ही होगा, परन्तु तुममें से बहुत कम लोगों ने यह सोचा होगा, कि ऐसा क्या कारण है जिससे ये थोड़े से विलक्षण पुरुष अन्य मनुष्यों पर शासन कर सकते हैं। देश के अन्य सब वर्गों की अपेक्षा ये निर्धन होते हैं परन्तु उनकी शक्ति का रहस्य उनके त्याग में ही छिपा हुआ है। वे कभी सम्पत्ति-संचय की इच्छा नहीं करते।

संसार भर में वे सब से अधिक निर्धन पुरोहित हैं और इसीलिए सब से अधिक शक्तिशाली। इतनी निर्धनता में भी एक ब्राह्मण की स्त्री किसी गरीब आदमी को बिना कुछ खाने को दिए हुए अपने गाँव से कभी नहीं जाने देगी। भारतवर्ष में माता का यह सबसे बड़ा कर्तव्य समझा जाता है और चूँकि वह स्वयं माँ है इसलिए उसका यह कर्तव्य है कि वह स्वयं सबके अन्त में भोजन करे। और वह सदा यह भी ध्यान रखती है कि अन्य सब लोगों के भोजन कर चुकने के उपरान्त ही स्वयं भोजन करे। यही कारण है कि भारतवर्ष में माता देवीस्वरूप मानी जाती है। जिन देवी का हम वर्णन करेंगे वे ठीक इसी प्रकार की एक आदर्श हिन्दू माता थीं। जिसकी जितनी उच्च जाति होती है उसके उतने ही अधिक बन्धन भी होते हैं। नीच जाति के लोग जो कुछ चाहे खा पी सकते हैं, परन्तु समाज में मनुष्य ज्यों ज्यों उच्च होते जाते हैं त्यों त्यों उनके बन्धन बढ़ते जाते हैं और जब वे वंशपरम्परागत पुरोहितों का अधिकार प्राप्त करके उच्चतम जाति अर्थात् ब्राह्मणत्व को पहुँच जाते हैं तब उनका जीवन जैसा कि मैं कह चुका हूँ नियमों से अत्यन्त आबद्ध हो जाता है। पाश्चात्य रहन-सहन की अपेक्षा उनका जीवन सतत तपस्वी वृत्ति का होता है। संसार में अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दू जाति शायद सब से अधिक अलिप्त रहती है। उन लोगों की दृढ़ता उसी प्रकार की है जैसी अंग्रेजों की, परन्तु अधिक विस्तृत।

जब वे किसी कल्पना पर विचार करते हैं तो उसको अन्त तक ही पहुँचा देते हैं और इस पर पीढ़ी दर पीढ़ी विचार करते

रहते हैं जब तक कि इसमें से वे कोई नया सार निकाल नहीं लेते। यदि कोई कल्पना वे अपने मन में बिठा लेते हैं तो फिर उसका निकलना सरल नहीं होता, परन्तु कठिन तो यही है कि वे आसानी से कोई कल्पना ग्रहण ही नहीं करते।

अतएव, पुराण-मताभिमानी हिन्दू बड़े संकीर्ण होते हैं और अपने ही विचार एवं भाव के क्षेत्र में विचरण करते रहते हैं। उनकी जीवन-वार्ता उनके प्राचीन ग्रंथों में अत्यन्त विस्तारपूर्वक लिखी है और उनके जीवन की प्रत्येक छोटी छोटी बात भी कड़ी रीति से पाली जाती है। वे भूखों प्राण दे देंगे परन्तु किसी ऐसे मनुष्य के हाथ का बनाया हुआ भोजन नहीं ग्रहण करेंगे जो उनकी जाति के उस छोटे से विभाग का नहीं होगा। परन्तु तो भी वे श्रद्धालु एवं प्रामाणिक हैं। प्रायः पुराण-मताभिमानी हिन्दुओं में प्रगाढ़ श्रद्धा एवं धार्मिक आचरण होता है, क्योंकि उनकी धार्मिक कट्टरता इस धारणा से उत्पन्न होती है कि वही सत्य है। सम्भव है हम सब उनके इस दृढ़ शास्त्रपालन से सहमत न हों, परन्तु उनका विश्वास है कि वह ठीक है। उदाहरणार्थ, हमारे ग्रंथों में लिखा है कि मनुष्य को सदैव हद दर्जे का दानशील होना चाहिए। यदि कोई मनुष्य दूसरे आदमी की सहायता करने के लिए तथा उस आदमी की जान बचाने के लिए स्वयं भूखों ही मर जाय तो भी ठीक है और यह माना जाता है कि मनुष्य को यही करना भी चाहिए तथा एक ब्राह्मण से यह आशा की जाती है कि वह इस ध्येय का पालन अत्यन्त कड़ी रीति से करेगा।

जो भारतवर्ष के साहित्य को जानते हैं, उन्हें इस अपूर्व दान के सम्बन्ध में एक सुन्दर पुरानी कथा याद आजायेगी। महाभारत में दर्शाया है कि एक कुटुम्ब का कुटुम्ब एक भिखारी को अपना अन्तिम भोजन देकर भूखों मर गया। यह अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि ऐसी बातें अब भी होती रहती हैं। मेरे गुरुदेव के माता-पिता का स्वभाव बहुत कुछ इसी प्रकार का था। यद्यपि वे बहुत गरीब थे परन्तु फिर भी मेरे गुरुदेव की माता अक्सर किसी गरीब आदमी की सहायता करने के लिए स्वयं दिन भर भूखी रह जाती थीं। उन्हीं माता-पिता के घर में इस बालक ने जन्म लिया और बचपन से ही यह बालक कुछ विलक्षण-सा था। अपने पूर्वजन्म का संस्मरण उसे जन्म से ही था और वह इस बात को भलीभाँति जानता था कि इस संसार में उसने किस उद्देश्य से जन्म लिया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उसने अपनी सर्व शक्ति लगा दी।

जब वह बालक बिलकुल छोटा था तभी उसके पिता का देहान्त हो गया और वह लड़का फिर पाठशाला भेजा गया। ब्राह्मण के लड़के को पाठशाला अवश्य जाना चाहिए, क्योंकि जाति-बंधन के अनुसार उसको केवल पढ़ने लिखने का ही कार्य करना चाहिए। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-पद्धति, जो आजकल भी देश में कई जगह प्रचलित है, और विशेषतः संन्यासियों के सम्बन्ध की शिक्षा-पद्धति, आधुनिक शिक्षा से बहुत भिन्न है। विद्यार्थियों को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था, क्योंकि सोचा ऐसा जाता था कि ज्ञान बहुत पवित्र है और किसी मनुष्य को इसे बेचना नहीं चाहिए। शिक्षा-दान निःशुल्क

तथा उदारता पूर्वक दिया जाना चाहिए। गुरुजन शिष्यों को निःशुल्क भरती करते थे और इतना ही नहीं, बल्कि उनमें से अधिकांश अपने शिष्यों को भोजन और वस्त्र भी देते थे ! इन गुरुजनों की सहायता के लिए रईस घराने विवाह-संस्कार, श्राद्ध-संस्कार आदि कई शुभ अवसरों पर इनको दान-दक्षिणा देते थे। ये गुरुजन कुछ विशेष प्रकार की दान-दक्षिणा के सर्वप्रथम अधिकारी समझे जाते थे और वे उसके बदले में अपने छात्रों का पालनपोषण करते थे। अतः जब कभी कोई विवाह-संस्कार होता है, और विशेषकर रईस घराने में, तो ये गुरुजन आमंत्रित किये जाते हैं और वे सम्मिलित होते हैं तथा उस अवसर पर उनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर वाद-विवाद होता है। एक बार यह बालक गुरुजनों के सम्मेलन में जा पहुँचा। गुरुजन उस समय तर्कशास्त्र, ज्योतिष आदि भिन्न भिन्न विषयों पर, जो इस बालक की अवस्था के अनुसार अत्यन्त गहन एवं गूढ़ विषय थे, बहस कर रहे थे। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ यह बालक बड़ा विलक्षण था और उसने इस विवाद से यह सार निकाला कि इनके कोरे पुस्तक सम्बन्धी ज्ञान का फल यह वाद-विवाद है।

ये सब इतनी बुरी तरह से क्यों लड़ रहे हैं ? यह केवल धन के लिए ही है, क्योंकि जो मनुष्य यहाँ अपनी विद्वत्ता सब से अधिक दिखा सकेगा वही वस्त्र की सब से अच्छी जोड़ी पाएगा और यही ध्येय है जिसके लिए ये सब लड़ रहे हैं। अतः उसने सोचा कि अब मैं पाठशाला बिल्कुल नहीं जाऊँगा और सचमुच वह नहीं गया और यही उसके पाठशाला के जीवन का अन्त था। परन्तु इस

बालक का एक बड़ा भाई भी था जो बड़ा विद्वान था। बड़ा भाई इस बालक को अपने साथ पढ़ने के लिए कलकत्ता ले गया। कुछ समय बाद बालक को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का ध्येय अधिकाधिक सम्पत्ति संचय करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसने इस प्रकार की शिक्षा को छोड़ देने तथा अपने को केवल आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तनमन से लगा देने का निश्चय किया। पिता के मर जाने से कुटुम्ब बहुत गरीब हो गया था और इस बालक को अपनी जीविका का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था। वह कलकत्ते के समीप एक जगह गया और वहाँ एक मन्दिर का पुजारी हो गया।

किसी मन्दिर का पुजारी होना एक ब्राह्मण के लिए बड़ा नीच कर्म होता है। हमारे मन्दिर तुम्हारे गिर्जाघरों के समान नहीं होते। वे सामाजिक उपासना के स्थान नहीं हैं, क्योंकि यदि सच पूछा जाय तो भारतवर्ष में सामाजिक उपासना जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। मान्दिर बहुधा धनी लोगों द्वारा ही एक धार्मिक सत्कृत्य की दृष्टि से बनवाये जाते हैं। यदि किसी मनुष्य के पास बहुत-सा धन होता है तो उसकी इच्छा एक मन्दिर बनवाने की होती है। उस मन्दिर में वह कोई ईश्वरी प्रतीक अथवा ईश्वरावतार की कोई मूर्ति स्थापित करता है ओर ईश्वर के नाम पर पूजा करने के लिए उस मन्दिर को खोल देता है। यह पूजा बहुत कुछ रोमन कैथलिक गिर्जाघरों की "मास" नामक पूजा के समान होती है जहाँ पवित्र धार्मिक ग्रन्थों से कुछ वाक्य पढ़े जाते हैं तथा मूर्ति के

सामने आरती की जाती है और मूर्ति की उसी प्रकार प्रतिष्ठा होती है जैसे किसी महान् पुरुष की। बस यही मन्दिरों में भी होता है। यह आवश्यक नहीं है कि जो पुरुष मन्दिर में जाता है वह मन्दिर में जाने के कारण ही किसी दूसरे पुरुष की अपेक्षा जो वहाँ कभी नहीं जाता अधिक श्रेष्ठ समझा जाय। वास्तव में बात तो यह है कि पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक धार्मिक समझा जाता है, क्योंकि भारतवर्ष में धर्म, प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत कार्य है। भारतवर्ष में प्रत्येक मनुष्य के घर में या तो एक छोटासा देवघर होता है अथवा कहीं एक ओर एक स्वतंत्र कमरा होता है जहाँ वह व्यक्ति सायं-प्रातः जाता है और एक कोने में बैठकर ध्यान-पूजा करता है। यह पूजा पूर्ण रूप से मानसिक ही होती है, क्योंकि दूसरा मनुष्य इसके बारे में न सुन सकता है आर न जान ही सकता है। वह केवल उस पुरुष को वहाँ बैठा हुआ ही देखता है और शायद एक विशेष रूप से अपनी उंगलियाँ चलाते हुए तथा अपने नथुने बन्द करके एक विशेष प्रकार से साँस लेते देखता है। इसके अतिरिक्त वह नहीं जानता है कि वह मनुष्य क्या कर रहा है, यहाँ तक कि शायद उस पुरुष की स्त्री भी कुछ नहीं जान सकती। इस प्रकार सारा ध्यान-पूजन उसके घर में ही एकान्त में होता है। जो मनुष्य अपना देवघर नहीं बना सकते हैं वे एक नदी या झील के किनारे अथवा यदि वे समुद्र के समीप रहते हैं तो समुद्र के किनारे ही ध्यान-पूजन करने के लिए चले जाते हैं। कुछ लोग कभी कभी

किसी मन्दिर में भी पूजा करने के लिए जाते हैं। यहाँ ये मूर्ति को केवल प्रणाम करते हैं और इसी में उनका मन्दिर जाने का कार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार तुम यह सोच सकते हो कि हमारे देश में बहुत प्राचीन समय से मनु के कथनानुसार किसी मन्दिर का पुजारी होना एक हीन कार्य है। कुछ ग्रन्थों का यह भी मत है कि यह कार्य इतना नीचे दर्जे का होता है कि इसके कारण एक ब्राह्मण निन्दनीय भी हो सकता है। इसके बारे में एक दूसरी कल्पना यह भी है कि जैसे शिक्षा के सम्बन्ध में पैसा लेना दोषास्पद माना जाता है उसी प्रकार उससे कहीं अधिक प्रमाण में धार्मिक सम्बन्ध में पैसा लेना दूषित है, क्योंकि मन्दिर के पुजारी लोग अपने काम के बदले में पैसा ले लेते हैं और इस प्रकार पवित्र कार्य को बाजारी वस्तुओं के क्रय-विक्रय का रूप दे देते हैं। अतः तुम उस बालक के उस समय के हार्दिक भावों का अनुमान कर सकते हो जब कि निर्धनता के कारण उसे पुजारी-पद ग्रहण करना पड़ा था, क्योंकि उसको केवल यही कार्य आसानी से प्राप्य था।

बंगाल में ऐसे बहुतसे कवि हो गये हैं जिनके पद पीढ़ी दर पीढ़ी गाये जाते हैं। उनका गान कलकत्ते की गलियों तथा प्रत्येक गाँव में होता है। इनमें से अधिकतर गीत धार्मिक हैं और इनका मुख्य भाव जो कि भारतवर्ष के सब धर्मों की विशेषता है, ईश्वर-प्राप्ति है। भारतवर्ष में कोई धार्मिक ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें ये भाव प्रमुख न हों। मनुष्य को ईश्वर प्राप्त करना चाहिए, ईश्वर का अनुभव करना चाहिए, ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन करने चाहिए

तथा उससे बातचीत करनी चाहिए। बस यही उनका धर्म है। भारतवर्ष में जहाँ तहाँ बहुत से ऐसे साधु-सन्तों के प्रकरण मिलते हैं जिन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है। इसी प्रकार के उच्च तत्त्व उनके धर्म के आधार हैं और ये सब प्राचीन ग्रन्थादि उन महापुरुषों के हैं जिन्हें आध्यात्मिक सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है। ये पुस्तकें कोरे बुद्धिमानों के लिए नहीं लिखी गई हैं और न तर्क की वहाँ तक पहुँच ही है, क्योंकि ये पुस्तकें ऐसे महापुरुषों द्वारा लिखी गई थीं जिन्होंने उन बातों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था; और ये सब बातें केवल उन्हीं पुरुषों द्वारा समझी जा सकती हैं जो उस आध्यात्मिक उच्च अवस्था को पहुँच गये हैं। इन ग्रन्थकारों का कहना है कि इसी जीवन में ईश्वर प्राप्त हो सकता है और वह भी प्रत्येक मनुष्य को। और यदि कहा जाय तो इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक प्रकार की शक्ति है और इस शक्ति का विकास होने पर धर्म का आरम्भ होता है। सब धर्मों का यही एक केन्द्रीय भाव है। यही कारण है कि कभी कभी हम किसी ऐसे मनुष्य को पाते हैं जो असाधारण वक्तृत्व-शक्ति तथा सुन्दर तर्कशास्त्र की योग्यता रखते हुए उच्चतम तत्त्वों का प्रचार करता है, परन्तु फिर भी उसको श्रोतागण ही नहीं मिलते। परन्तु दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि एक अत्यन्त सामान्य मनुष्य, जो शायद कठिनता से अपनी मातृभाषा भी बोल सकता है, अपने ही जीवन-काल में लगभग आधे राष्ट्र द्वारा देवता-तुल्य पूजनीय हो जाता है। जब भारतवर्ष में किसी प्रकार से यह बात दूर तक फैल जाती है कि अमुक मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त

हो गया है, उसे धार्मिक सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है तथा उसके लिए धर्म और आत्मा का अमरत्व और ईश्वर आदि विषय जटिल नहीं रह गये हैं तो तमाम स्थानों से लोग उसके दर्शन करने आते हैं और धीरे धीरे उसकी देवता के समान पूजा करने लगते हैं।

जिस मन्दिर में यह बालक पूजा करता था उसमें आनन्दमयी जगन्माता की एक मूर्ति थी। इस बालक को सायं-प्रातः पूजा करनी पड़ती थी और धीरे धीरे उसके मन में इस विचार ने अधिकार जमा लिया "क्या इस मूर्ति में किसी का वास है ? क्या यह सत्य है कि इस संसार में आनन्दमयी जगन्माता हैं ? क्या यह सत्य है कि इस विश्व का सारा व्यवहार वे चलाती हैं ? अथवा यह सब स्वप्नवत् ही है ? क्या धर्म में वास्तव में सत्यता है ?" इस प्रकार के तर्क-वितर्क हिन्दू बालक के मन में उठते हैं। इस प्रकार का सन्देह कि 'जो कुछ मैं कर रहा हूँ क्या वह वास्तव में सच हैं'—हमारे देश का विशेषत्व है; साथ हीं साथ परमेश्वर सन्बन्धी तथा आत्म सम्बन्धी कल्पनाओं से हम सन्तुष्ट नहीं होते यद्यपि इस प्रकार की कल्पनाएँ हमारे सामने सदैव रहती हैं। केवल ग्रन्थों तथा कोरे मत-प्रतिपादन से हमें कभी सन्तोष नहीं होता और एक भाव जो कि हमारे देश में हजारों मनुष्यों में व्याप्त रहता है वह प्रत्यक्ष अनुभव का ही भाव है। प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर का अस्तित्व सत्य है और यदि है तो क्या उसे मैं देख सकता हूँ ? क्या मुझे ईश्वर विषयक सत्य का ज्ञान हो सकता है ? पाश्चात्य को ये सब बातें शायद अनुशीलन करने योग्य न जचें, परन्तु हम लोगों के लिए ये नितान्त क्रियात्मक हैं;

इस भाव के निमित्त वहाँ के मनुष्य अपना जीवन भी समर्पण करने को तैयार हैं। आप लोगों ने अभी सुना है कि आरम्भिक काल से ही ऐसे महापुरुष हो गये हैं जिन्होंने अपने सब सुख-साज का त्याग कर दिया था और जो जाकर गुफाओं में रहने लगे। सैकड़ों ने अपना घर-द्वार छोड़ दिया और पवित्र नदियों के किनारे अनेकों यातनायें सहीं। ये सब कष्ट जो उन्होंने सहे, वे अपने भाव का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए ही थे। यह सब उन्होंने न तो केवल साधारण ज्ञान के लिए किया, न बौद्धिक ज्ञान के लिए, न तत्व-वस्तु की तर्कपूर्ण जानकारी के लिए और न अंधेरे में टटोलबाजी के लिए ही, वरन् इस बात के लिए कि हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा यह संसार जितना प्रत्यक्ष प्रतीत होता है उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष हमें सत्य का अनुभव हो जाय।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है। यही एक भाव था जिसका असर उनके मन पर पड़ा था। ध्येय-साधन के लिए हजारों मनुष्य देह त्याग चुके थे, और हजारों तैयार थे। अतः इस एक भाव के हेतु हजारों वर्षों से सारे राष्ट्र ने प्रचण्ड स्वार्थ त्याग किया तथा अपने प्राण अर्पण किये। इसी भाव के लिए प्रत्येक वर्ष हजारों हिन्दू गृह-त्याग करते हैं और उनमें से बहुत से उसके निमित्त कठिनाइयाँ सहते सहते मर तक जाते हैं। पाश्चात्य लोगों को ये सब बातें मृगतृष्णा के समान मालूम पड़ती हैं और इस दृष्टिकोण का कारण भी मैं समझ सकता हूँ; परन्तु यद्यपि मैं पश्चिमी देशों में भी

रहा हूँ तो भी मेरा यही विश्वास है कि यह भाव हमारे जीवन में सर्वापेक्षा सत्य एवं साध्य है।

मैं जितनी देर इस सत्य वस्तु के अतिरिक्त कभी किसी दूसरी बात पर विचार करता हूँ तो मैं यही सोचता हूँ कि मेरा उतना ही नुकसान हुआ है। संसार के अद्भुत विज्ञान-सम्बन्धी आविष्कार भी मेरे लिए हितकर नहीं हैं, क्योंकि मेरी यह भावना है कि जो जो बातें मुझे इस सत्य से दूर हटाती हैं वे सब मेरे लिए व्यर्थ हैं। चाहे तुम एक देवदूत के समान ज्ञानी हो अथवा एक पशु के समान अज्ञानी हो, प्रत्येक दशा में यह जीवन क्षणभंगुर है; चाहे तुम एक फटे-पुराने कपड़ों वाले मनुष्य के समान निर्धन हो अथवा तुम्हारे पास धनकुबेर की सम्पत्ति हो तो भी जीवन क्षणभंगुर है; चाहे रास्ते में भटकने वाले किसी साधारण मनुष्य के समान तुम्हारी दुर्दशा हुई हो अथवा तुम लाखों पर राज्य करने वाले सम्राट हो, परन्तु ज़ीवन क्षणभंगुर ही है; चाहे तुम अत्यन्त स्वस्थ अथवा दुर्बल से भी दुर्बल हो, परन्तु जीवन क्षणभंगुर ही है; और चाहे तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त नम्र और शीलवान हो अथवा क्रूर हो, जीवन प्रत्येक दशा में क्षणभंगुर ही है। हिन्दुओं के अनुसार जीवन-समस्या की एक ही मीमांसा है और वह है ईश्वर तथा धर्म-लाभ। यदि ईश्वर और धर्म को सत्य मान लिया जाय, तब तो जीवन का अर्थ ही स्पष्ट हो जाता है, जीवन निबा-हने योग्य तथा आनन्दमय हो जाता है, और नहीं तो वह बोझ के सदृश ही रहता है। यह हमारी दृढ़ भावना है, परन्तु केवल वाद-विवाद से यह नहीं दर्शाया जा सकता; हाँ, अधिक से अधिक यही बतलाया

जा सकता है कि यह सम्भव है। ज्ञान के किसी क्षेत्र के उच्च से उच्च बुद्धिवाद द्वारा किसी वस्तु का अस्तित्व केवल 'सम्भव' ही बतलाया जा सकता है पर इससे अधिक नहीं। भौतिक शास्त्र द्वारा स्थापित अनेक सिद्धान्त 'सम्भव' ही कहे जा सकते हैं, सत्य नहीं। उनका सत्य स्वरूप केवल इन्द्रियों द्वारा ही जाना जा सकता है। किसी भी बात की सत्यता जानने के लिए उसका अनुभव इन्द्रियों द्वारा करना पड़ता है। यह जैसा सच है उसी प्रकार धर्म को सत्य मानने के लिए हमें धर्म का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास होने के लिए हमें ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। यह जानने के लिए कि धार्मिक सत्य ही वास्तविक सत्य है, हमें उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। स्वयं का अनुभव ही हमें इस बात की सत्यता सिद्ध करा सकता है—तर्क-वितर्क अथवा अन्य कोई चीज़ नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव ही हमारे विश्वास को पर्वत के समान दृढ़ बना सकता है और ऐसी ही मेरी तथा अन्य भारत-वासियों की धारणा है।

यही धारणा उस बालक के मन में समा गई और उसने अपनी सारी जीवन-शक्ति इसी भावना पर केन्द्रीभूत कर दी। दिन पर दिन वह रोता और कहता, 'हे जगन्माता! क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है अथवा यह सब काल्पनिक ही है? आनन्दमयी माता वास्तव में है या कवियों की केवल कपोल-कल्पना तथा भटके हुए लोगों का भ्रम ही है?' हम यह देख चुके हैं कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं अथवा जिन पुस्तकों को हम पढ़ते हैं उन

सब का ज्ञान इस बालक को नहीं था; अतः इस बालक का मन सहज ही सरल एवं निष्पाप था। उसकी विचार-शैली भी बड़ी पवित्र थी और इसका कारण यह था कि दूसरे के विचारों की विज्ञप्ति न होने के कारण उन विचारों का प्रभाव उसके मन पर नहीं पड़ा था। उसने विश्व-विद्यालय में प्रवेश नहीं किया था अतएव वह स्वयं विचार कर सकता था। चूँकि हम लोगों ने अपना आधा जीवन विश्वविद्यालयों में बिता दिया है अतः हमारा मन दूसरों के विचारों से भर गया है। प्रोफेसर मैक्समूलर के जिस लेख का मैंने अभी वर्णन किया है उसमें उन्होंने ठीक ही कहा है कि मेरे गुरुदेव का मन स्वच्छ एवं मूलस्वरूप ही रहा था और इसका कारण यह था कि वे विश्वविद्यालय के सम्पर्क में नहीं बड़े हुए थे। धीरे धीरे यह विचार जो उनके मन में सबसे प्रबल था कि 'क्या ईश्वर देखा जा सकता है' दृढ़ होने लगा; यहाँ तक कि वे और किसी बात के बारे में सोच ही नहीं सकते थे—यहाँ तक कि वे ठकि तौर से पूजा भी नहीं कर सकते थे और उससे सम्बन्धित अनेक विधियों पर भी ध्यान नहीं दे सकते थे। बहुधा वे जगन्माता की मूर्ति के सम्मुख नैवेद्य रखना भी भूल जाते थे और कभी कभी आरती उतारना भी। कभी कभी वे घण्टों आरती ही उतारा करते थे तथा उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ उन्हें विस्मरण हो जाता था!

प्रत्येक समय एक विचार उनके मन में रहा करता था और वह था, 'हे माता! क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है? फिर तुम बोलती क्यों नहीं हो? क्या तुम जीवित नहीं हो?' इस

सम्बन्ध में शायद हम में से कुछ लोग यह स्मरण कर सकेंगे कि हमारे जीवन में कुछ ऐसे अवसर अवश्य आते हैं जब हम नीरस तर्क-वितर्क तथा पुस्तकों को पढ़ते पढ़ते थक जाते हैं—क्योंकि आखिर ये पुस्तकें हमें कुछ बहुत नहीं सिखातीं—और इनका पढ़ना भी अफीम खाने के समान केवल मानसिक व्यसन ही हो जाता है। इस प्रकार इन सब बातों से थककर एवं विचलित हो हमारे हृदय से एक हूक निकलती है कि 'क्या इस विश्व में कोई ऐसा नहीं है जो हमें प्रकाश दिखा सके ? अतः हे माता ! यदि तुम हो तो मुझे प्रकाश दिखाओ। तुम बोलती क्यों नहीं ? तुम ऐसी अप्राप्य क्यों बनती हो ? तुम अपने इतने दूतों को क्यों भेजती हो और स्वयं क्यों नहीं आती ? इस कलह-क्लेश एवं पक्ष-विपक्ष के संसार में मैं किसका अनुसरण तथा विश्वास करूँ ? यदि तुम प्रत्येक स्त्री पुरुष की ईश्वर हो तो तुम स्वयं अपने बच्चे से बोलने क्यों नहीं आती और देखो कि वह छटपटाता हुआ तुम्हारे दर्शन करने को उत्सुकता पूर्वक तैयार है कि नहीं ?' ऐसे विचार हम सभों के मन में उठते हैं परन्तु कब ?—जब हमें बड़ा मानसिक क्लेश होता है ! पर दूसरे ही क्षण हम उन्हें भूल जाते हैं, क्योंकि हमारे चारों ओर अनेकों मोहरूपी जाल हैं। कुछ क्षण के लिए हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे लिए स्वर्ग का द्वार खुल जायगा और ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वर्गीय दिव्य प्रकाश में तन्मय हो जायँगे, परन्तु फिर थोड़ी देर बाद हमारा पाशविक अंश हमें इन दैवी दृश्यों से दूर पटक देता है। हम फिर पशु के समान नीच गति को पहुँच जाते हैं और

खाने, पीने, मरने, जन्म लेने और फिर खाने पीने में व्यस्त हो जाते हैं। परन्तु कुछ असाधारण पुरुष ऐसे होते हैं कि उनके सामने चाहे कितने भी प्रलोभन क्यों न हों पर यदि उनका मन एक बार ध्येय की ओर आकर्षित हो गया तो फिर वह माया-जाल द्वारा इतनी सरलता से विचलित नहीं होता, क्योंकि वे सत्यस्वरूप परमेश्वर के दर्शन करने के इच्छुक होते हैं और यह भलीभाँति जानते हैं कि यह जीवन नाशवान है। उनका यही मत रहता है कि उच्च प्रकार की विजयप्राप्ति के लिए यदि मरना हो तो अत्युत्तम है। और वास्तव में पाशविक अंश के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने तथा जन्म-मरण के प्रश्न को सुलझा लेने और अच्छे तथा बुरे के बीच में भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेने की अपेक्षा और श्रेष्ठ है ही क्या? अस्तु—

अन्त में उस बालक के लिए उस मन्दिर में काम करना असम्भव हो गया। उसने वह मन्दिर छोड़ दिया और समीपवर्ती एक छोटे से जंगल में चला गया और वहीं रहने लगा। अपने जीवन की इस अवस्था के सम्बन्ध में मेरे गुरुदेव ने मुझसे कई बार चर्चा की थी और वे यह भी कहते थे कि उन्हें यही नहीं ज्ञात रहता था कि सूर्योदय तथा सूर्यास्त कब हुआ तथा वे किस प्रकार वहाँ रहे। वे अपने स्वयं के बारे में सब विचार भूल गये थे, यहाँ तक कि भोजन करने का भी उन्हें ध्यान नहीं रहता था। इस समय में उनके एक सम्बन्धी ने बड़े प्रेम पूर्वक उनकी देख-रेख की और वह इनके मुँह में भोजन डाल दिया करते थे जो वे केवल निगल लेते थे।

इसी प्रकार इस बालक के कितने ही दिन-रात बीत गये। जब एक पूरा दिन बीत जाता था और संध्या-समय मन्दिरों से घण्टियों की झंकार तथा भजनों की गूँज इस बालक को बन में सुनाई देती थी तो वे बड़े दु:खित हो कलपते हुए यह चिल्लाने लगते थे, 'हे माता! आज का भी एक दिन व्यर्थ चला गया और तूने दर्शन नहीं दिये—इस छोटे से जीवन का एक दिन और व्यतीत हो गया परन्तु फिर भी मुझे ईश्वर-ज्ञान नहीं हुआ।' इस हार्दिक वेदना के कारण वे कभी कभी अपना मुँह जमीन पर रगड़ डालते और बिलखते बिलखते उनके मुँह से यह प्रार्थना निकल पड़ती थी, 'हे जगन्माता! तुम शीघ्र प्रकट हो जाओ—देखो मैं तुम्हारे लिए कैसा तड़प रहा हूँ—मुझे और कुछ नहीं चाहिए।' वास्तव में वे अपने ध्येय में एकनिष्ठ थे। उन्हें यह मालूम था कि जब तक जगन्माता के लिए सर्वस्व त्याग नहीं किया जाता तब तक वह दर्शन नहीं देतीं। वे यह भी जानते थे कि जगन्माता प्रत्येक को दर्शन देना चाहती हैं परन्तु लोग ही दर्शन नहीं चाहते—वे तो सब प्रकार के आनन्द भोग के ही इच्छुक होते हैं परन्तु जगन्माता के दर्शन के नहीं। और जिस समय वे पूर्ण तन-मन से उसके लिए छटपटाएंगे और अन्य किसी वस्तु के लिए नहीं, बस उसी समय श्री जगदंबा उन्हें अवश्य दर्शन देंगी। अतः वे उस भावना में तद्रूप होने का यत्न करने लगे और उन्होंने ध्येय साधन के नियमों का भी पूर्ण रूप से पालन करने का निश्चय् किया। जो कुछ थोड़ी बहुत उनके पास सम्पत्ति थी वह सब उन्होंने छोड़ दी और धन कभी न छूने का प्रण कर लिया। यह

विचार कि 'मैं धन कभी नहीं छुऊँगा' उनके शरीर का मानो एक अंश ही हो गया। सम्भव है यह बात तुम सभों को कुछ गूढ़ सी जान पड़े, परन्तु निद्रावस्था में भी यदि मैं उनके शरीर को किसी सिक्के से छू लेता था तो उनका हाथ ही टेढ़ा हो जाता था और उनका सारा शरीर ऐसा प्रतीत होता था मानो लकवा मार गया हो!

दूसरा विचार जो उनके मन में उत्पन्न हुआ वह यह था कि 'कामवासना हमारा दूसरा शत्रु है।' मनुष्य वस्तुतः आत्मस्वरूप है और यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष। उन्होंने सोचा कि काम तथा कांचन ही ऐसे दो कारण हैं जो उन्हें जगन्माता के दर्शन नहीं होने देते। सारा विश्व जगन्माता का दृश्य स्वरूप ही है और वह प्रत्येक स्त्री के शरीर में वास करती है। प्रत्येक स्त्री जगन्माता का रूप है, अतः किसी स्त्री को मैं स्त्री-भाव से कैसे देख सकता हूँ?—यह विचार उनके मन में पूर्णरूप से जम गया था। प्रत्येक स्त्री हमारी माता है तथा हमें उस अवस्था को पहुँच जाना चाहिए जब कि प्रत्येक स्त्री में केवल जगन्माता का ही स्वरूप दिखे और यह ध्येय उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से निबाहा।

ईश्वर-दर्शन सम्बन्धी यह छटपटाहट मनुष्य के हृदय को बड़े ज़ोर से पकड़ लेती है। बाद को उन्होंने एक बार मुझसे कहा, "मेरे बच्चे, मान लो एक कमरे में सोने का एक थैला रखा है और उसके पास ही दूसरे कमरे में एक चोर है, तो क्या तुम सोच सकते हो कि उस चोर को नींद आएगी? नहीं, कदापि नहीं—उसके मन में लगातार यही उथल-पुथल मची रहेगी कि

मैं उस कमरे में कैसे पहुँचूँ तथा उस सोने को कैसे पाऊँ। इसी प्रकार क्या तुम सोच सकते हो कि जिस मनुष्य को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि इस माया के प्रसार के पीछे अविनाशी, अखण्ड, आनन्द-मय परमेश्वर स्वरूप सत्य निवास करता है तथा उसके सामने इन्द्रियों का सुख कुछ भी नहीं है, तो उस सत्य को प्राप्त किये बिना वह मनुष्य कैसे चुपचाप बैठ सकता है ? क्या वह अपने प्रयत्न क्षणभर के लिए भी स्थगित कर सकता है ? कदापि नहीं—असह्य छटपटाहट के कारण वह पागल हो जायगा।" बस इसी दैवी विचार में वह बालक तन्मय हो गया। उस समय उसके लिए मार्ग-प्रदर्शक कोई न था, कोई उससे बातचीत करने वाला भी न था और सब यही समझते थे कि यह बालक पागल हो गया है। परन्तु यह जगत् की साधारण गति है। यदि कोई मनुष्य सांसारिक ढोंग आदि का त्याग कर देता है तो हम यही सुनते हैं कि लोग उसे पागल कहते हैं, परन्तु ऐसे ही पुरुष समाज को जीवन-शक्ति देने वाली संजीवनी होते हैं। ऐसे ही पागलपन से वे शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने इस संसार को हिला दिया है, और ऐसे ही पागलपन से भविष्य में ऐसी शक्तियों का जन्म होगा जो हमारे संसार में उथल-पुथल मचा देंगी।

इस प्रकार सत्यलाभ के लिए उस बालक की आत्मा को छटपटाते अनेक दिवस, सप्ताह तथा महीने व्यतीत हो गये। अब उस बालक को विचित्र प्रकार के दर्शन होने लगे, नाना प्रकार के दृश्य दिखने लगे तथा अपने स्वभाव के अनेक रहस्य प्रकट होने लगे।

ऐसा प्रतीत होता था कि मानो एक परदे के बाद दूसरा परदा हटाया जाने लगा हो। प्रत्यक्ष जगन्माता ने ही गुरु-स्थान ग्रहण किया और उन्होंने उस बालक को सत्य-संशोधन का वह मार्ग दिखला दिया जिसे वह ढूँढ़ रहा था। इसी समय उस स्थान पर अद्वितीय विद्वत्ता की एक सुंदर स्त्री आ पहुँची। इस स्त्री के विषय में मेरे गुरुदेव कहा करते थे कि वह केवल विद्वान ही नहीं थी, वरन् विद्वत्ता की साक्षात् मूर्ति थी; उसमें मानो ज्ञान स्वयं मनुष्य-रूप धारण करके प्रकट हुआ था। इस बात में भी तुम्हें भारतवर्ष का वैशिष्ट्य प्रतीत होगा।

साधारण हिन्दू स्त्री अशिक्षित होती है तथा जिस स्थिति को पाश्चात्य देश में परतंत्रता कहते हैं उसी स्थिति में यह स्त्री उत्पन्न हुई थी पर आध्यात्मिक दृष्टि से यह अपूर्ण सीमा को पहुँच चुकी थी। वह एक संन्यासिनी थी—क्योंकि भारतवर्ष में स्त्रियाँ भी संसार त्याग कर देती हैं, अपनी सब सम्पत्ति को तिलाञ्जलि दे देती हैं, विवाह नहीं करतीं तथा अपना सारा जीवन ईश्वर-सेवा में ही अर्पण कर देती हैं। यह स्त्री वहाँ आई और इस बालक के बारे में जब यह सुना कि वह जंगल में रहता है तो उसने उसके पास जाने तथा उससे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। इसी स्त्री से उस बालक को सर्वप्रथम सहायता मिली। फौरन ही यह स्त्री उस बालक के क्लेश का रहस्य ताड़ गई और उससे कहा, "मेरे बेटे, वह पुरुष धन्य है जिसके ऊपर इस प्रकार का पागलपन आये—वैसे तो सारा संसार ही पागल है; कोई धन के लिए, कोई सुख के लिए, कोई कीर्ति के लिए और कितने ही लोग अन्य सैकड़ों वस्तुओं के लिए

कुछ लोग सोना पाने के लिए, कोई पति के लिए, कोइ स्त्री के लिए तथा अन्य छोटी छोटी बातों के लिए अथवा दूसरों पर जुल्म करने के लिए या स्वयं श्रीमान् बनने के लिए, आदि अनेकानेक मूर्खता की बातों के लिए पागल रहते हैं, परन्तु ईश्वर ही के लिए वे पागल नहीं होते।—और वे आपस में ही एक दूसरे का पागलपन समझ सकते हैं। यदि काइ मनुष्य धन के लिए पागल होता है तो वे उसके प्रति सहानुभूति दर्शाते हुए समभाव रखते हैं और उसे ठीक समझते हैं। उनकी यह भावना इसी प्रकार की होती है जैसे एक पागल मनुष्य यह समझता है कि संसार में उसके समान अन्य पागल लोग ही ठीक दिमाग वाले हैं। परन्तु यदि कोई मनुष्य ईश्वर के प्रति पागल है तो वे उसे कैसे समझ सकते हैं? वे यह विचार करने लगते हैं कि उसका सिर घूम गया है और कहते हैं कि उससे अलग ही रहना चाहिए। यही कारण है कि वे तुझे पागल कहते हैं; परन्तु तेरा ही पागलपन ठीक है। वह पुरुष धन्य है जो ईश्वर-प्रेम के कारण पागल हो—ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े होते हैं।"

यह स्त्री उस बालक के पास कई वर्षों तक रही और उसने उसे भारतवर्ष की विभिन्न धर्म-प्रणालियों के साधन सिखलाये, अनेक प्रकार के योग-साधनों की दीक्षा दी और उसमें व्याप्त, प्रचण्ड धर्म-स्रोत को नियमित तथा प्रणालीबद्ध कर दिया।

कुछ समय बाद वहाँ एक विद्वान् तथा तत्त्वज्ञानी संन्यासी आये। ये लोग एक विशेष धर्म-पंथ के अनुयायी होते हैं तथा

भिक्षाटन-वृत्ति पर निर्वाह करते हैं। यह संन्यासी एक असाधारण पुरुष थे और उनका मत था कि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह सब मिथ्या है। वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि संसार का अस्तित्व वास्तविक है और लोगों को यह प्रमाणित करने के लिए वे कभी छत के नीचे नहीं रहते थे। चाहे घनघोर वर्षा हो अथवा कड़ी धूप, वे सदा खुले में ही रहते थे। यह संन्यासी उस बालक को वेदान्त सिखलाने लगे और शीघ्र ही अत्यन्त आश्चर्यजनक बात जो उन्हें मालूम हुई वह यह थी कि उनका शिष्य कुछ विषयों में अपने गुरु से भी बढ़ा-चढ़ा था। यह संन्यासी उस बालक के साथ कई महीने रहे और उसके बाद उसे संन्यास-मार्ग की दीक्षा देकर उन्होंने प्रस्थान किया।

जब यह बालक मन्दिर का पुजारी था उसी समय उसकी विचित्र प्रकार की पूजा देखकर लोगों को भ्रम हुआ कि इसके मस्तिष्क में कुछ हेरफार हो गया है और इसीलिए उसके कुटुम्बी उसे घर लिवा ले गये और उसका विवाह एक छोटीसी कन्या से यह सोचकर करा दिया कि शायद इस रीति द्वारा ही इसके विचार फिर पलटकर पूर्ववत् ठीक हो जाएँ। परन्तु यह बालक विवाह के उपरान्त घर पर न रहकर फिर अपने काम पर वापस आ गया और पूर्ववत् अपने विचारों में अधिकाधिक तन्मय हो गया। कभी कभी हमारे देश में लड़कों का विवाह बचपन में ही हो जाता है और उस सम्बन्ध में उनकी कोई राय नहीं ली जाती। उनके माता-पिता ही उनका विवाह कर देते हैं। यह बात अवश्य है कि ऐसा विवाह

सगाई से बहुत भिन्न नहीं होता। विवाह के पश्चात् भी वे अपने माँ-बाप के यहाँ रहते हैं और सच्चा विवाह उस समय होता है जब लड़की सयानी हो जाती है। उस समय यह रिवाज होती है कि वर वधू के घर जाकर उसे स्वयं अपने साथ लिवा लाता है। परन्तु इस विवाह में मेरे गुरुदेव यह बिल्कुल भूल ही गये थे कि उनकी स्त्री भी है। अपने मायके में लड़की ने यह भी सुन रखा था कि उसके पति को धर्मोन्माद हो गया है और उन्हें कुछ लोग पागल भी समझते थे। उसने ठीक ठीक बात का स्वयं पता लगाने का निश्चय किया और अपने घर से निकल पड़ी और उस स्थान को आई जहाँ उसका पति था।

भारतवर्ष में यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष धर्म के कार्य के लिए अपना जीवन अर्पण कर देता है तो उसके ऊपर किसी प्रकार का दूसर बन्धन नहीं रह जाता। परन्तु फिर भी जब वह स्त्री अपने पति के सन्मुख आकर खड़ी हो गई तो मेरे गुरुदेव ने तुरन्त ही अपनी स्त्रा का अपने ऊपर जीवन पर्यन्त अधिकार स्वीकार कर लिया।

वे अपनी स्त्री के चरणों पर गिर पड़े और कहने लगे, "जगन्माता ने तो मुझे यह दर्शा दिया है कि वह प्रत्येक स्त्री में निवास करती है और इसलिए मैंने यह सीख लिया है कि मैं प्रत्येक स्त्री को मातृवत् ही देखूँ। यही एक दृष्टि है जिससे मैं तुम्हें देख सकता हूँ, परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा मुझे संसाररूपी मायाजाल में खींचने की हो, क्योंकि मेरा तुमसे विवाह हो चुका है, तो मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ।"

वह बालिका अत्यन्त पवित्र तथा उदार हृदय की थी और अपने पति की आकांक्षाएँ जान गई तथा उनके कार्य के प्रति समभाव प्रकट करने लगी। उसने तुरन्त ही उत्तर दिया कि उसकी यह इच्छा बिलकुल नहीं थी कि वह अपने पूज्य पतिदेव को सांसारिक जीवन में घसीटे, परन्तु इतनी इच्छा अवश्य थी कि वह उन्हीं के समीप रहे, उन्हीं की सेवा करे तथा उन्हीं से धर्ममार्ग के सम्बन्ध में शिक्षा ग्रहण करे। वह मेरे गुरुदेव के अनन्य भक्तों में से एक भक्त हो गई और सदैव देवता तुल्य उनकी सेवा करती थी। इस प्रकार से अपनी धर्मपत्नी की अनुमति से उनका अन्तिम बन्धन भी टूट गया और वह उस पथ पर चलने के लिए स्वतंत्र हो गये जिसे उन्होंने चुना था।

इसके अनन्तर इन महापुरुष की यह इच्छा हुई कि वे भिन्न भिन्न धर्मों के सत्य स्वरूप को जानें। उस समय तक उन्होंने अपने धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म के विषय में कुछ भी नहीं जाना था। उन्होंने यह जानना चाहा कि दूसरे धर्म किस प्रकार के थे। अतः उन्होंने भिन्न भिन्न धर्मों के गुरुओं को ढूँढ़ा। भारतवर्ष में गुरु का अर्थ क्या होता है यह हमें जान लेना चाहिए—गुरु केवल एक किताबी कीड़ा ही नहीं वरन् एक आत्मज्ञानी पुरुष होता है तथा दूसरे मनुष्यों के द्वारा नहीं बल्कि स्वयं प्रत्यक्ष आत्मानन्द का अनुभव किये हुए होता है। उन्हें एक मुसलमान साधु मिल गया और वह उसी के साथ रहने को चले गये और उसने जो जो भक्ति-भावात्मक साधनाएँ बतलाईं उन सबको इन्होंने पूर्ण किया। मेरे गुरु-

देव को यह बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस धर्म की साधनाएँ भी जब अन्तःकरण से की गईं तो उन्हें उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई जिसे वे पहले ही पा चुके थे। यही अनुभव उन्हें ईसामसीह के ईसाई धर्म के सच्चे अनुष्ठान से हुआ। इसी प्रकार जो अन्य धर्मपंथ उन्हें मिले उन उन पर भी वे चले और जिस जिस की साधना उन्होंने की, पूर्ण अन्तःकरण से की। जसा जसा उनसे कहा गया, ठीक ठीक वैसा ही उन्होंने किया और प्रत्येक दशा में वे एक ही अनुभव को प्राप्त हुए। इस प्रकार स्वयं अनुभव द्वारा उन्हें यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक धर्म का ध्येय एक ही है और सब धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं—अन्तर केवल मार्ग तथा विशेष रूप से भाषा में रहता है। वास्तविक रूप से सब पंथों तथा धर्मों का ध्येय एक ही है। लोग केवल अपने अपने स्वार्थसाधन के लिए लड़ते रहते हैं। वे वास्तविक सत्यरूप के इच्छुक नहीं होते परन्तु होते हैं केवल 'अपने या पराए के नाम' के लिए। इन धर्मों में से कोई भी दो धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं, परन्तु उनमें से एक कहता है कि "दूसरा सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि उस धर्म का नाम मेरे धर्म के नाम से भिन्न है—अतः दूसरे धर्म के प्रचारकों की बातों पर ध्यान मत दो और यद्यपि वह बहुत कुछ वही सिखाता है जो मैं कहता हूँ, परन्तु फिर भी वह सत्य नहीं कहता, क्योंकि जो कुछ वह सिखाता है वह मेरे धर्म क नाम से सम्बन्धित नहीं है।"

यह रहस्य मेरे गुरुदेव ने जान लिया और फिर वे परम नम्रता सीखने में संलग्न हो गये, क्योंकि वे यह जान गये थे कि प्रत्येक धर्म

का एक मुख्य भाव है और वह यह कि 'मैं कुछ नहीं हूँ—तू ही सब कुछ है'; और वास्तविक रूप से जो यह कहता है कि 'मैं कुछ नहीं तथा कहीं नहीं हूँ' बस् उसी के हृदय में ईश्वरत्व अभिव्यक्त होता है। यह क्षुद्र अहंभाव जितना ही कम होता है उतना ही अधिक मनुष्यत्व के स्थान में ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। यह सत्य उन्होंने संसार के प्रत्येक धर्म में जान लिया और स्वयं उसका अनुभव करने का निश्चय किया। जैसा मैं तुमसे कह चुका हूँ, जब जब कोई साधना करने का विचार उनके मन में आया तब तब उसके सम्बन्ध की सूक्ष्म शाब्दिक विवेचनाओं में न पड़कर वे शीघ्र ही उसके आचरण तथा प्रयत्न में लग जाते थे। हम बहुत से लोगों को औदार्य, समानता, दूसरों के अधिकार आदि कितने ही सद्विषयों पर बड़ी बड़ी बातें करते हुए देखते हैं, परन्तु यह सब बातें केवल शाब्दिक ही होती हैं। मैं ऐसा भाग्यशाली था कि मुझे मेरे गुरुदेव एक ऐसे महापुरुष मिल गये कि उन्होंने जो कुछ कहा उसे कार्यरूप में परिणत कर प्रत्यक्ष दिखा दिया। उनमें इस बात की अद्भुत शक्ति थी कि जिस जिस वस्तु को वे सत्यरूप समझते थे उस उसको कार्यरूप में परिणत कर डालते थे।

उसी स्थान के समीप एक चण्डाल जाति का कुटुम्ब रहता था। भारतवर्ष में इस जाति की संख्या कई लाख है और इन लोगों की जाति इतनी नीच समझी जाती है कि हमारे कुछ ग्रन्थों का कथन है कि यदि एक ब्राह्मण अपने घर के बाहर प्रातःकाल निकलते ही किसी चण्डाल का मुख देख ले, तो उसे दिन भर व्रत रखना पड़ता

है और फिर शुद्ध होने के लिए कुछ मंत्रों का उच्चारण करना पड़ता है! कुछ हिन्दू नगर ऐसे हैं कि जब उनमें कोई चण्डाल घुसता है तो उसे अपने सिर पर एक कौए का पंख रख लेना होता है जिससे सब उसे पहचान सकें कि वह चण्डाल है! साथ ही उसे ज़ोर से यह भी चिल्लाना पड़ता है 'हटो, बचो, सड़क पर एक चण्डाल जा रहा है' और यह देखा जाता है कि लोग उससे ऐसे दूर भागते हैं मानो जादू से भाग रहे हों, क्योंकि यदि वे उसे धोखे से छू भी लें तो उन्हें जाकर अपने कपड़े बदलने पड़ते हैं, स्नान करना पड़ता है तथा अन्य कई बातें करनी पड़ती हैं। चण्डाल भी हजारों वर्षों से यह विश्वास करता चला आया है कि जो कुछ वह करता है वह उसे उचित ही है, क्योंकि यदि वह किसी को छू लेगा तो वह मनुष्य अपवित्र हो जाएगा।

यह विचार करने की बात है कि मेरे गुरुदेव मनुष्य-मात्र को एक-सा मानते थे और इसीलिए वे किसी भी चण्डाल के यहाँ चले जाते और उससे उसके घर में झाड़ पोंछ करने की आज्ञा माँगते थे। शहर की सड़कों तथा दूसरों के घरों को साफ करना चण्डाल का स्वयं का कार्य है। वह घर में सामने के दरवाजे से नहीं घुस सकता, परन्तु पीछे के दरवाज़े से आता है और जैसे ही वह चला जाता है वैसे ही जिस जिस जगह पर वह गया होता है वह सारी जगह गंगाजल से छिड़ककर पवित्र कर ली जाती है। जन्म से ही ब्राह्मण शुद्ध माना जाता है और चण्डाल अशुद्ध। और आश्चर्य यही है कि मेरे गुरुदेव जो ब्राह्मण थे, उन्होंने चण्डाल

के ही घर में दासकर्म करने की आज्ञा माँगी। वास्तव में चण्डाल ने उन्हें वह कार्य करने की आज्ञा नहीं दी, क्योंकि वे सब जानते थे कि किसी ब्राह्मण को ऐसा नीच कर्म करने की आज्ञा देना बड़ा भारी पाप होगा तथा फलस्वरूप वे सब के सब नष्ट हो जाएँगे। अतः चण्डाल ने उन्हें वह कार्य नहीं करने दिया। परन्तु आधी रात को जब चण्डाल के घर के सब लोग सोते रहते थे तो श्रीरामकृष्ण देव घर में घुस जाते थे। उनके बड़े बड़े बाल थे और अपने बालों से ही वे सारी जगह झाड़ डालते आर यह कहते जाते थे, "हे जगन्माता, मुझे चण्डाल का दास बना दो और मुझे यह अनुभव कर लेने दो कि मैं उससे भी हीन हूँ।" हिन्दू धर्मशास्त्रों की यह शिक्षा है कि "मेरे भक्तों का जो भक्त है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है—वे सब मेरे ही बच्चे हैं और उनकी सेवा करना महाभाग्य है।"

आत्मशुद्धि के लिए इसी प्रकार की उनकी अनेक अन्य साधनाएँ भी थीं—उन सब का वर्णन करने में बहुत समय लगेगा। मैं उनके जीवन को तुम्हारे सामने केवल संक्षेप रूप से रखना चाहता हूँ।

इसी प्रकार कई वर्षों तक उन्होंने अपने मन को शिक्षा दी। उनकी कई साधनाओं में से एक साधना स्त्री-पुरुष के भेदभाव को समूल नष्ट कर देने की भी थी। स्त्री-पुरुष का भेद केवल शरीर में ही है, आत्मा में नहीं; और जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहता है वह यह भेदभाव कभी नहीं मान सकता। यद्यपि हमारे गुरुदेव ने पुरुष शरीर में जन्म लिया था, परन्तु फिर भी प्रत्येक वस्तु में वे स्त्रीत्व

की कल्पना करना चाहते थे। वे यह सोचने लगे कि वे स्वयं पुरुष नहीं, बल्कि स्त्री हैं, अतः स्त्रियों के समान ही कपड़े पहनने लगे, उन्हीं के समान बोलने लगे तथा पुरुषों के सब कार्य छोड़कर सुशील कुटुम्ब की स्त्रियों के बीच में जाकर रहने लगे। इस प्रकार के वर्षों के नियमित आचरण के बाद उनके मन का स्वरूप पलट गया तथा वे स्त्री-पुरुष के भेद की कल्पना बिल्कुल भूल गये और इस प्रकार जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बिल्कुल बदल गया।

पाश्चात्य देश में प्रायः हम स्त्रियों के पूजन का विषय सुनते हैं, परन्तु यह पूजन बहुधा उन स्त्रियों का तारुण्य तथा लावण्य के कारण ही होता है। परन्तु मेरे गुरुदेव के स्त्री-पूजन का भाव यह था कि प्रत्येक स्त्री में जगन्माता का निवास है और इसके अतिरिक्त अन्यथा कुछ नहीं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि मेरे गुरुदेव उन स्त्रियों के चरणों पर गिर पड़ते थे जिन्हें समाज तिरस्कृत करता है और उन स्त्रियों से भी रोते रोते यही पुकारते थे, "हे जगन्माता, एक स्वरूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे स्वरूप में तुम जगद्व्यापिनी हो। हे जगदम्बे, हे माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।" वह जीवन कितना धन्य है जिसमें सब प्रकार का पशुभाव नष्ट हो जाता है, जिसके द्वारा मनुष्य प्रत्येक स्त्री की ओर प्रेम तथा आदर की दृष्टि से देख सकता है और जिसके द्वारा प्रत्येक स्त्री का मुखमण्डल ऐसा प्रतीत होता है मानो वह बदलकर आनन्दमयी माता का ही मुख हो तथा उसके ऊपर मानवजाति की संरक्षक श्री जगदम्बा का तेज झलकता हो। हमारी दृष्टि भी इसी प्रकार की होनी चाहिए।

स्त्री में जो ईश्वरत्व वास करता है उसे हम कभी ठग नहीं सकते। यह न कभी ठगा गया है न ठगा जाएगा। यह सदैव अपना प्रभाव जमा लेता है तथा सदैव ही अचूक रूप से बेईमानी तथा ढोंग को पहचान लेता है। सत्य, दिव्य आत्मतेज तथा शुद्धता के पावित्र्य का इसे अवश्य ही पता चल जाता है। यदि हम अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहते हैं तो इस प्रकार की शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है।

मेरे गुरुदेव के जीवन में इसी प्रकार की प्रखर तथा विशुद्ध पवित्रता आ गई और सामान्य मनुष्य के जीवन में जो नाना प्रकार के द्वन्द्व होते हैं वे उनके लिए सब नष्ट हो गये। अपना तीन-चतुर्थांश जीवन व्यतीत करके उन्होंने कड़ी तपस्याओं द्वारा जो आध्यात्मिक सम्पत्ति एकत्रित की थी वह अब मानवजाति में बँट जाने के लिए तैयार हो गई थी और उसके पश्चात् उन्होंने अपना जगत् का प्रचारकार्य आरम्भ किया। उनकी शिक्षा तथा उनके उपदेश कुछ विलक्षण प्रकार के थे। हमारे देश में सबसे अधिक आदर तथा सम्मान गुरु को मिलता है तथा हमारी ऐसी श्रद्धा रहती है कि गुरु साक्षात् ईश्वर ही हैं। उतनी श्रद्धा हमें अपने माता-पिता के लिए भी नहीं होती है। माता-पिता तो हमें केवल जन्म ही देते हैं, परन्तु गुरु तो हमें मुक्तिमार्ग दिखाते हैं।

हम गुरु की ही सन्तान हैं तथा उन्हीं के आध्यात्मिक वंशविस्तार में हमारा एक स्थान रहता है। किसी असाधारण महापुरुष के दर्शन करने को हजारों हिन्दू आते हैं और वे उसके चारों ओर भीड़ लगा

लेते हैं। मेरे गुरुदेव एक ऐसे ही महापुरुष थे, परन्तु मेरे गुरुदेव को यह ध्यान ही नहीं था कि उनको मान-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए अथवा नहीं। उन्हें इस बात का रंच भर भी भास नहीं था कि वे एक बड़े गुरु थे। उनको तो यही ध्यान था कि जो कुछ हो रहा था वह सब माता ही करा रही थी तथा वे स्वयं कुछ नहीं कर रहे थे। वे सदैव यही कहा करते थे कि यदि मेरे मुँह से कोई अच्छी बात निकलती है तो वे जगन्माता के ही शब्द होते हैं—मैं स्वयँ कुछ नहीं कहता। अपने प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उनका यही विचार रहा करता था और महासमाधि के समय तक उनका यही विचार स्थिर रहा। मेरे गुरुदेव किसी के पास कुछ पूछने नहीं गये। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को प्रथम चारित्रवान् होना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और फिर उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया करते थे कि 'जब कमल खिलता है तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती हैं——इसी प्रकार अपना चरित्ररूपी पंकज पूर्ण रूप से खिल जाने दो और फल अपने आप ही प्राप्त हो जाएँगे।' हम सब लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ी शिक्षा है। मेरे गुरुदेव ने यह शिक्षा मुझे सैकड़ों बार दी, परन्तु फिर भी मैं इसे प्रायः भूल जाता हूँ। विचारों द्वारा उत्पन्न प्रचण्ड शक्ति को बहुत थोड़े लोग समझ पाते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी गुफा के अन्दर चला जाता है और उसमें अपने को बन्द कर किसी एक गहन तथा उदात्त विषय पर एकान्त में निरन्तर एकाग्रचित्त हो मनन करता रहता है और उसी

दशा में आजन्म मनन करता करता अपने प्राण भी त्याग देता है तो तदनन्तर उसके वही विचार गुफा की दीवालों में घुस जाते हैं तथा चारों ओर के वातावरण में उसकी तरंगें फैल जाती हैं और अन्त में वे तरंगें सारी मनुष्यजाति में प्रवेश कर जाती हैं। विचारों में ऐसी प्रचण्ड शक्ति व्याप्त रहती है। अतः अपने विचारों का दूसरों में प्रचार करने के लिए जल्दी नहीं करनी चाहिए। हमें पहले इस योग्य बन जाना चाहिए कि हम दूसरों को कुछ दे सकें। मनुष्य में ज्ञान का प्रसार केवल वही कर सकता है जिसके पास देने को कुछ हो, क्योंकि शिक्षा देना केवल शाब्दिक व्यवहार नहीं है और न यह अपने मतों को दूसरों के सम्मुख रखना ही है—यह तो अपनी आध्यात्मिक शक्ति को किसी दूसरे को देना है। सत्य रूप से आत्मिक शक्ति किसी दूसरे को इसी प्रकार दी जा सकती है जैसे मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ। और यह बात अक्षरशः सत्य है। यह विचार भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है और पाश्चात्य देशों में भी इस भाव का उदाहरण 'Apostolic Succession' द्वारा पाया जाता है अर्थात् पोप की गद्दी के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में जो तत्त्व है तथा उसके निमित्त जो विश्वास है उसका भी मूल भाव यही है। अतः प्रथम हमें चरित्रवान होना चाहिए और यही सब से बड़ा कर्तव्य है जो हमारे सामने है। सत्य का ज्ञान पहले स्वयं को होना चाहिए और उसके बाद वह तुम अनेकों को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आयेंगे। यही मेरे गुरुदेव की शैली थी। उन्होंने कभी किसी दूसरे पर टीका नहीं की। वर्षों मैं उनके समीप रहा, परन्तु उनके

मुँह से कभी किसी दूसरे धर्मपंथ के बारे में मैंने बुराई नहीं सुनी। सब धर्मपंथों पर उनकी समान श्रद्धा थी और उन सब में उन्होंने ऐक्य-भाव ढूँढ़ लिया था। मनुष्य ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, कर्ममार्गी अथवा तंत्रोपासक हो सकता है; और भिन्न भिन्न धर्मों के यही मार्ग हैं, परन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि ये चारों गुण एक ही मनुष्य में पाये जायँ। भविष्य काल की मानवजाति में यही होने वाला भी है। यही मेरे गुरुदेव का विश्वास था। उन्होंने किसी को बुरा नहीं कहा, वरन् सब में अच्छाइयाँ ही देखीं।

इनके दर्शन तथा इनके उपदेश सुनने के लिए हजारों मनुष्य आते थे और मेरे गुरुदेव गाँव की भाषा में ही बोलते थे, परन्तु उनका प्रत्येक शब्द ओजस्वी एवं बोधप्रद होता था। यदि सचमुच देखा जाय तो यह बात अत्यन्त गौण है कि क्या कहा जा रहा है तथा किस भाषा में कहा जा रहा है। असर तो होता ह वक्ता की विभूति के प्रतिबिम्ब का जो शब्दों में पड़ता है। इसका अनुभव हम सभों को कभी कभी होता है। हम बहुधा अत्यन्त उत्कृष्ट तथा तर्क-वितर्कपूर्ण ओजस्वी भाषण सुनते हैं परन्तु जब हम घर जाते हैं तो सब भूल जाते हैं। पर कभी कभी हम बहुत थोड़े से ही शब्द सुनते हैं और वह भी अत्यन्त साधारण भाषा में, लेकिन वह तो मानो हमारे हृदय में ही प्रवेश कर जाते हैं और हमारे जविन-रस में ही भिदकर बहुत समय तक रुके रहते हैं तथा चिरस्थायी प्रभाव डाल देते हैं। जो पुरुष अपने शब्दों में अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाल सकता है उसके शब्द प्रभावशाली होते हैं। परन्तु बात यह है कि

उस मनुष्य का व्यक्तित्व ही असाधारण होना चाहिए। शिक्षण में सदा कुछ देना तथा लेना रहता है—शिक्षक देता है तथा शिष्य ग्रहण करता है, परन्तु शिक्षक के पास कुछ देने को होना चाहिए तथा शिष्य भी निर्मल बुद्धि से उसे ग्रहण करने योग्य हो।

मेरे गुरुदेव कलकत्ता शहर के समीप रहने को आये। यह नगर उस समय भारतवर्ष की राजधानी थी।

यह शहर हमारे देश में विश्वविद्यालय का एक प्रमुख स्थान है और इस विश्वविद्यालय से प्रति वर्ष सैकड़ों नास्तिक तथा जड़वादी बाहर निकलते हैं—परन्तु फिर भी इस विश्वविद्यालय के ऐसे कितने ही मनुष्य इनके पास आते और इनकी बातें सुनते थे। मैंने भी इन महापुरुष के बारे में सुना और इनके समीप इनके उपदेश सुनने गया। मेरे गुरुदेव एक अत्यन्त साधारण मनुष्य के समान प्रतीत होते थे तथा उनमें कोई विशेषता नहीं दिखती थी। वे बहुत साधारण भाषा का प्रयोग करते थे। उस समय मुझे आश्चर्य होता था कि 'क्या यह पुरुष वास्तव में महान् ज्ञानी है?' मैं धीरे से उनके पास सरक गया और उनसे वह प्रश्न पूछने लगा जो मैं अन्य सभी से पूछा करता था। मैंने प्रश्न किया, 'महाराज, क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ।' मैंने कहा, 'क्या आप सिद्ध करके दिखा सकते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ।' मैंने कहा, 'कैसे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'जैसे मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ उसी प्रकार से—बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से मैं ईश्वर को देखता हूँ।' इस उत्तर से मेरे

मन पर उसी समय बड़ा असर पड़ा, क्योंकि जीवन में मुझे प्रथम बार ही यह ऐसा पुरुष मिला जिसने तुरन्त ही यह कह दिया कि मैंने ईश्वर देखा है तथा जिसने यह भी बताया कि धर्म एक वास्तविक सत्य है और जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियों द्वारा विश्व का अनुभव करते हैं उससे कहीं अधिक प्रमाण में उसका अनुभव किया जा सकता है। मैं उनके पास दिन प्रतिदिन जाने लगा और मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि धर्म भी दूसरे को 'दिया' जा सकता है। केवल एक ही स्पर्श तथा एक ही दृष्टि से सारा जीवन बदला जा सकता है।

मैंने महात्मा बुद्ध, ईसामसीह तथा मुहम्मद के बारे में तथा पुराणकालीन अन्य महात्माओं के विषय में पढ़ा है। वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा' और वह मनुष्य उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था। यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इस महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिये तो मेरा सारा नास्तिकपन दूर हो गया। मेरे गुरुदेव कहा करते थे, "इस संसार की किसी लेने-देने वाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है।" अतः प्रथम स्वयं तुम्ही आत्मज्ञानी हो जाओ तथा संसार को कुछ देने योग्य बन जाओ और फिर संसार के सम्मुख देने के लिए खड़े हो। धर्म बात करने की चीज़ नहीं है, न वह मतों का समुच्चय है, न तत्त्व-विवेचन है और न स्वपंथाभिमान ही है। धर्म किसी 'मण्डल' अथवा 'पंथ' में बँध कर नहीं रह सकता। यह तो

जीवात्मा तथा परमात्मा के बीच का एक सम्बन्ध है। अतएव किसी एक संस्था में बद्ध होकर यह कैसे रह सकता है? ऐसा होने से तो उसका स्वरूप केवल व्यवहार का ही हो जायगा और इसीलिए जहाँ जहाँ धर्म में व्यवहार होता है तथा उसका व्यावहारिक स्वरूप होता है वहाँ वहाँ धर्म में अध्यात्म का नाश हो जाता है। मन्दिर तथा गिर्जाघर बनवा देने तथा सामुदायिक पूजा में उपस्थित हो जाने का नाम धर्म नहीं है। यह पुस्तकों में, शब्दों में, व्याख्यानों में अथवा संस्थाओं में नहीं रहता। यह आत्मज्ञान में ही है। वास्तव में हम सब जानते हैं कि जब तक हमको स्वयं सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक हमारा समाधान नहीं होता। हम चाहे जितना वाद-विवाद क्यों न करें तथा चाहे जितना सुनें, परन्तु हमें एक ही चीज़ से सन्तोष होगा और वह है स्वयं प्राप्त किया हुआ आत्मज्ञान; और यह अनुभव प्रत्येक को प्राप्त होना सम्भव है यदि उसके लिए यत्न किया जाय। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सब से पहले त्याग की आवश्यकता है। जहाँ तक हो सके हमें त्याग करना चाहिए। अन्धकार तथा प्रकाश और इसी प्रकार ऐहिक सुख तथा पारमार्थिक सुख कभी साथ साथ नहीं रह सकते हैं। 'परमेश्वर तथा धन की सेवा एक साथ तुम कभी नहीं कर सकते।' यदि लोग चाहते हो तो उन्हें यत्न कर देखने दो। प्रत्येक देश में मैंने ऐसे बहुत से पुरुष देखे हैं जो दोनों वस्तुएँ एक साथ पाने का यत्न करते हैं, परन्तु अन्त में उनके हाथ कुछ भी नहीं लगता। इस सम्बन्ध में यदि कोई बात सत्य है तो वह यही कि ईश्वर के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग

कर दो। यह कार्य बड़े प्रयास का है और जल्दी नहीं हो सकता, परन्तु तुम इसे इसी घड़ी आरम्भ कर सकते हो। धीरे धीरे हम त्याग करते हुए ध्येय की ओर पहुँच सकते हैं।

दूसरा एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आश्चर्यजनक सत्य जो मैंने अपने गुरुदेव से सीखा, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं वे कोई परस्पर विरोधी एवं वैर-भावात्मक नहीं हैं—वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। यही एक शाश्वत धर्म मानवी जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं, विभिन्न भावों तथा मानव-वंशों में प्रकाशित होता है। मेरा धर्म अथवा तुम्हारा धर्म, मेरा राष्ट्रीय धर्म तथा तुम्हारा राष्ट्रीय धर्म अथवा नाना प्रकार के अलग अलग धर्म आदि विषय आरम्भ में कभी नहीं थे। संसार में केवल एक ही धर्म है। आदि काल से केवल एक ही अनन्त धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीति से प्रकट होता है। अतएव हमें सब धर्मों को मान देना चाहिए और जहाँ तक हो सके उनके तत्वों में अपना विश्वास रखना चाहिए। धर्म का स्वरूप केवल किसी मानव-वंश अथवा जाति के गुणानुसार अथवा उस स्थान की भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार ही नहीं होता वरन् वहाँ के व्यक्तियों के गुणों पर अवलम्बित रहता है। किसी मनुष्य में धर्म तीव्र कर्मशीलता के रूप में प्रकट होता है, किसी दूसरे में उत्कट भक्ति के रूप में, किसी तसिरे में योग-मार्ग के स्वरूप में तथा किसी अन्य में तत्त्वज्ञान के रूप में। अतः इस प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्यों के गुणानुसार भिन्न भिन्न रूप में

धर्म प्रकट होता है। हम बड़ी भूल करते हैं यदि धर्म के विषय में हम किसी से कहते हैं कि तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है। शायद एक मनुष्य जो प्रेममार्गी है यह सोचेगा कि जो मनुष्य किसी का हित करता है वह उचित धर्म-मार्ग पर नहीं चलता, क्योंकि वह (प्रेममार्गी) स्वयं ऐसा नहीं करता और इसलिए दूसरा मनुष्य भी गलती पर है। यदि कोई तत्त्वज्ञानी ऐसा सोचता है कि 'ये बेचारे लोग कितने अज्ञानी हैं, ये प्रेममय परमेश्वर के विषय में तथा उसे प्रेम करने के सम्बन्ध में क्या जाने—वे क्या कर रहे हैं यही उन्हें ज्ञात नहीं है' तो यह उन तत्त्वज्ञानियों की भूल है, क्योंकि हो सकता है कि वे दोनों ही ठीक मार्ग पर हों। हम सभों को यह केन्द्रीय रहस्य समझ लेना चाहिए कि सत्य केवल एक है और यह भिन्न भिन्न प्रकार से प्रकट हो सकता है तथा भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से इसका भिन्न भिन्न स्वरूप दिख सकता है। इस ज्ञान के अनन्तर भिन्न भिन्न धर्मों के विषय में वैर-भाव को नष्ट कर हम सब आपस में उत्कट सहानुभूति रख सकेंगे। यह स्वाभाविक है कि जब तक इस संसार में भिन्न भिन्न गुणों के मनुष्य जन्म लेंगे तब तक एक ही धर्म अनेकानेक स्वरूपों में प्रकट होगा। और जब हम यह बात समझ लेंगे तो हमें एक दूसरे के प्रति सहिष्णुत्व होगा। प्रकृति के अनेकत्व में एकत्व है। इस इन्द्रियगम्य जगत् में अनन्त विभिन्नता है किन्तु उन सब विभिन्नताओं में अनन्त, अपरिणामी तथा निरपेक्ष एकत्व भरा है। यही बात प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में भी है। व्यष्टि समष्टि की क्षुद्राकार में पुनरावृत्ति मात्र है। ये सब भेद प्रतीत होते हुए भी इनमें शाश्वत एकत्व

विराजमान है और इसी एकत्व का ज्ञान हमें प्राप्त करना चाहिए। सब विचारों में यही एक ऐसा विचार है जिसकी आज मैं अत्यन्त आवश्यकता समझता हूँ। मैं एक ऐसे देश से आ रहा हूँ जो विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का एक प्रमुख स्थान है और उस देश में सौभाग्यवश अथवा दुर्भाग्यवश कहिये, प्रत्येक नूतन धर्मवादी अपना अपना अनुयायी भेजना चाहता है। इस देश में रहने से बचपन से ही संसार के भिन्न भिन्न धर्म-पंथों का मुझे ज्ञान हो गया है; और मैंने यह भी देखा है कि अमेरिका के मारमन्स* नामक प्रचारक भी, जिनके यहाँ एक स्त्री कई पुरुषों के साथ तथा एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है, इस देश में अपने धर्म का प्रचार करने आये! भारतवर्ष ने उन सभों का स्वागत किया। भारतवर्ष ही एक ऐसी भूमि है जहाँ धर्म का प्रचार सरलता से हो सकता है। अन्य किसी देश की अपेक्षा वहाँ कोई भी धर्म शीघ्र ही अपना स्थान जमा लेता है। यदि तुम उस देश में हिन्दुओं को राजनीति सिखाने जाओ तो वहाँ के लोग उसे नहीं समझेंगे, परन्तु यदि वहाँ किसी धर्म का प्रचार करने जाओ और वह धर्म चाहे जितना विचित्र क्यों न हो, थोड़े ही समय में तुम्हें सैकड़ों अथवा हजारों अनुयायी मिल जायँगे और शायद अपने जीवनकाल में ही तुम इन अनुयायियों के लिए ईश्वरवत्

---

*इस सम्प्रदाय को सन् १८३० ई० में यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका में जोसेफ स्मिथ ने स्थापित किया था। इसके अनुयायियों ने बाइबिल में एक नया अध्याय जोड़ दिया है आर वे इस बात का दावा करते हैं कि उनमें कुछ विशेष शक्तियाँ (Occult Powers) हैं। उनमें बहुविवाह पद्धति भी थी।

बन जाओ। मुझे हर्ष है कि भारतवर्ष में ऐसा है—ऐसी बात की भारतवर्ष में आवश्यकता ही है।

हिन्दुओं में पंथ अनेक हैं और उनमें से कुछ तो आपस में विलक्षण रूप से विरोधात्मक भी हैं। परन्तु फिर भी उन सब का यही मत है कि वे सब एक ही धर्म के भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।

'जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियाँ विभिन्न स्थानों से निकलकर टेढ़ी-मेढ़ी या सीधी बहकर अन्त में आकर एक ही समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों वाले भिन्न भिन्न धर्मपंथ अन्त में तुम्हीं में मिल जाते हैं।'* यह केवल शाब्दिक तत्त्व-ज्ञान नहीं है वरन् यह एक ऐसा सत्य है जो हम सभों को मान्य होना चाहिए। परन्तु यह इस प्रकार नहीं माना जाना चाहिए जैसे कुछ लोग अनुग्रहपूर्वक धर्म की बातें मानते हैं; उदाहरणार्थ वे कह देते हैं—हाँ, हाँ, इसमें कुछ बातें बड़ी अच्छी हैं—यही भिन्न भिन्न मानव-वंशों के धर्म कहलाते हैं—इन धर्मों में कुछ न कुछ अच्छी बातें रहती ही हैं, आदि आदि। कुछ लोगों की बड़ी विलक्षण कल्पना होती है जो बड़ी 'उदार' सी प्रतीत होती है—वे कहते हैं कि अन्य सब धर्म इतिहास के पूर्वकालीन मानवी उत्क्रान्ति के छोटे छोटे टुकड़े हैं, परन्तु केवल हमारा ही धर्म परिपूर्ण रूप का है। एक मनुष्य कहता है कि मेरा धर्म सब से प्राचीन है अतः सर्वश्रेष्ठ है। दूसरा कहता है कि मेरा धर्म सर्वोत्तम है, क्योंकि वह सब से

---

* "रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"—शिवमहिम्नस्तोत्र, श्लोक ७।

आधुनिक है। पर हमें यह पहचानना चाहिए कि मोक्षप्राप्ति की शक्ति प्रत्येक धर्म में समान है। मन्दिर अथवा गिर्जाघर में जो धर्मों का भेदभाव दिखाई देता है वह केवल कल्पना मात्र है। एक ही परमेश्वर सब जगह है और वही एक परमेश्वर एक अति क्षुद्र जीवात्मा की रक्षा तथा मुक्ति का जिम्मेदार है—न तुम, न मैं तथा न अन्य कोई दूसरा पुरुष। मैं यह नहीं समझ सकता कि कुछ लोग यह कहते हुए भी कि 'मैं ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ' यह भाव रखते हैं कि ईश्वर ने कुछ थोड़े से ही लोगों को सब सत्य का ठेका दे दिया है और वे ही सारी शेष मनुष्य जाति के संरक्षक हैं। उसे तुम 'धर्म' कैसे कह सकते हो? धर्म का अर्थ है आत्मज्ञान, परन्तु केवल कोरी बहस, खोखला विश्वास, अन्धेरे में टटोलबाजी तथा तोते के समान पूर्वजों के शब्दों को दुहराना और ऐसा करने में धर्म समझना, एवं धार्मिक सत्य में से कोई राजनीतिक विषय ढूँढ़ निकालना—यह सब 'धर्म' बिल्कुल नहीं है। प्रत्येक पंथ में, यहाँ तक कि इस्लाम पंथ में भी जिसे हम अत्यन्त दुराग्रही समझते हैं, हम यही देखते हैं कि जब कभी किसी मनुष्य ने आत्मज्ञान प्राप्त करने का यत्न किया तो उसके मुँह से यही शब्द निकले—'हे ईश्वर, तू ही सभों का नाथ है, तू ही सभों के हृदय में वास करता है, तू ही सब का मार्ग-प्रदर्शक है, तू ही सब का गुरु और तू ही हम सभों की अपेक्षा अनन्त रूप से इस विश्व का रक्षक है।' किसी मनुष्य की श्रद्धा नष्ट करने का प्रयत्न मत करो। यदि हो सके तो उसे जो कुछ अधिक अच्छा हो दे दो, यदि

हो सके तो जिस दर्जे पर वह खड़ा हो उसे सहायता देकर ऊपर उठा दो—परन्तु जिस स्थान पर वह था उस जगह पर से उसे नीचे मत गिराओ। सच्चा गुरु वही है जो क्षणभर में ही मानो हजारों विभिन्न व्यक्तियों में अपने को परिणत कर सके। सच्चा गुरु वही है जो एक विद्यार्थी को सिखाने के लिए विद्यार्थी की ही मनोभूमि के बराबर तुरन्त उतर आये और अपनी आत्मा अपने शिष्य की आत्मा में एकरूप कर सके तथा जो शिष्य की ही दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से सुन सके तथा उसी के मस्तिष्क से समझ सके। ऐसा ही गुरु शिक्षा दे सकता है—अन्य दूसरा नहीं। अन्य सब निषेधक निरुत्साहक तथा संहारक गुरु कभी भलाई नहीं कर सकते।

अपने गुरुदेव के सहवास में रहकर मैंने यह जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्णावस्था को पहुँच सकता है। उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले और न उन्होंने कभी किसी में दोष ढूँढ़ा। उनकी आँखें सम्भवतः कोई बुरी चीज़ देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे। उन्हें जो कुछ दिखा वह अच्छा ही दिखा। यही महान् पवित्रता तथा महान् त्याग आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है। वेदों का कथन है—

"अमरत्व न तो सम्पत्ति से प्राप्त हो सकता है, न सन्तति से—वह तो केवल वैराग्य से पाया जा सकता है।"* श्री ईसा मसीह का भी कथन है कि 'जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब बेच दो तथा

---

* "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"

निर्धनों को दे दो और मेरे पीछे पीछे आ जाओ।' यही भाव सब साधु-संतों तथा दैवी पुरुषों ने भी प्रकट किया और उसे अपने जीवनकाल में निबाहा है। असामान्य आध्यात्मिकता बिना त्याग के कैसे प्राप्त हो सकती है? प्रत्येक दशा में विशुद्ध विचार की पार्श्वभूमि केवल त्याग ही है और तुम यह सदैव देखोगे कि जैसे जैसे त्याग-विषयक कल्पना क्षीण होती जाती है वैसे ही वैसे धर्म के क्षेत्र में इन्द्रियों की सत्ता बढ़ती जाती है और सहज ही उसी प्रमाण में आध्यात्मिकता का ऱ्हास होता जाता है।

मेरे गुरुदेव त्याग की साकार मूर्ति थे। हमारे देश में जो पुरुष संन्यासी होता है उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह सारी सांसारिक सम्पत्ति तथा यश का त्याग कर दे और मेरे गुरुदेव ने इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया। ऐसे बहुत से मनुष्य थे जो अपने को धन्य मानते यदि मेरे गुरुदेव उनसे कोई भेंट ग्रहण कर लेते, और यदि वे स्वीकार करते तो वे मनुष्य उन्हें हजारों रुपये दे देते, परन्तु मेरे गुरुदेव ऐसे ही लोगों से दूर भागते थे। काम-कांचन पर उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी और इस बात के वे प्रत्यक्ष उदाहरण भी थे। वे इन दोनों बातों की कल्पना के भी परे थे और इस शताब्दि के लिए ऐसे ही महा-पुरुषों की आवश्यकता है, आजकल के दिनों में ऐसे ही त्याग की आवश्यकता है, विशेषकर जब लोग यह समझते हैं कि उन चीज़ों के बिना जिन्हें वे केवल 'आवश्यकताएँ' ही कहते हैं और जो प्रमाण से भी अधिक बढ़ती जा रही हैं, वे एक मास भी नहीं

रह सकते। आजकल के समय में ही यह आवश्यक है कि कोई एक ऐसा मनुष्य उठकर संसार के अविश्वासी पुरुषों को यह दिखा दे कि संसार में आज भी एक ऐसा महापुरुष है जो संसार भर की सम्पत्ति तथा कीर्ति की एक तृण भर भी परवाह नहीं करता—और आज संसार में ऐसे पुरुष हैं भी।

मेरे गुरुदेव के जीवन का दूसरा महान् तत्त्व दूसरों के प्रति प्रेम था। उनके जीवन का पूर्वार्ध आध्यात्मिक शक्ति के संचय में लगा रहा तथा उत्तरार्ध उसके वितरण में। किसी धार्मिक प्रचारक अथवा संन्यासी से भेंट करने का ढंग हमारे देश में ऐसा नहीं है जैसा इस देश में है। भारतवर्ष में भिन्न भिन्न प्रश्नों का पूछने के लिए लोग साधु-संन्यासियों के पास जाते हैं और कोई कोई तो सैकड़ों मील से पैदल चलकर केवल एक यह प्रश्न पूछने आते हैं—'महाराज, एक-आध ऐसा शब्द बता दीजिए जिससे मोक्ष मिल जाय।' इस प्रकार वे उनका एक-आध शब्द सुनने के लिए ही आते हैं। वे बिना आडम्बर के झुण्डों में आते हैं और उस स्थान पर जाते हैं जहाँ वह साधु अधिकतर रहता है—जैसे किसी वृक्ष आदि के नीचे—और वहाँ आकर उससे प्रश्न करते हैं। एक झुण्ड जाने के बाद दूसरा आ जाता है। इस प्रकार यदि कोई पुरुष अधिक पूजनीय है तो कभी कभी तो उसे रात दिन में थोड़ा भी विश्राम नहीं मिलता। उसे लगातार बातचीत करते ही रहना पड़ता है। घण्टों लोग आते रहते हैं और यह महापुरुष उन्हें उपदेश देता रहता है।

इस प्रकार आदमियों के झुण्ड के झुण्ड मेरे गुरुदेव के श्री-वचन सुनने आते थे और वे चौबीस घण्टे में से बीस घण्टे तक उनसे बातें करते रहते थे और वह भी एक दिन की बात नहीं बल्कि महीनों यही क्रम जारी रहा जिसका फल यह हुआ कि अन्त में उनका शरीर अत्यन्त परिश्रम के कारण टूट गया। उन्हें मानव-जाति के प्रति इतना अगाध प्रेम था कि उनके पास कृपा-लाभार्थ हजारों आनेवालों में से अत्यन्त सामान्य मनुष्य भी उस कृपा-लाभ से वंचित नहीं रहता था। फलस्वरूप धीरे धीरे उन्हें गले का एक बड़ा भयंकर रोग हो गया, परन्तु फिर भी आग्रह करने पर भी वे इतनी मेहनत करना नहीं छोड़ते थे। जैसे ही वे सुनते कि बाहर आये हुए लोग उनसे मिलने के इच्छुक हैं तो उन्हें अन्दर बुलाये बिना वे नहीं मानते थे और उनके सब प्रश्नों का उत्तर देते थे। जब उन्हें ऐसा करने से रोका जाता था तो वे उत्तर देते थे कि, 'मैं परवाह नहीं करता। यदि एक भी मनुष्य की सहायता हो सके तो मैं ऐसे हजारों शरीर छोड़ने को तैयार हूँ—एक आदमी की भी सहायता करना अपूर्व पुरुषार्थ है।' उनके लिए विश्राम मानो था ही नहीं। एक बार एक मनुष्य ने उनसे पूछा, 'महाराज, आप बड़े योगी हैं—आप अपना मन थोड़ा अपने शरीर की ओर ही क्यों नहीं लगा देते जिससे अपनी बीमारी को आराम हो जाय?' पहले तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब वही प्रश्न कई बार पूछा गया तो उन्होंने शान्ति से कहा, 'मित्र, मैं समझता था कि तुम ज्ञानी हो, परन्तु तुम भी संसार के अन्य लोगों के समान ही बातें करते हो—

यह सारा मन मैंने ईश्वरार्पण कर दिया है तो क्या अब मैं इसे वापस ले लूँ और इसे इस शरीर में लगाऊँ जो आत्मा का केवल पिंज़ड़ा है ?' इस प्रकार वे लोगों को उपदेश देते गये, और अन्त में यह खबर फैल गई कि उनका अन्तकाल समीप आ गया है। तब तो पहले की अपेक्षा कहीं अधिकाधिक झुण्डों में लोग उनके पास आने लगे। तुम यह अनुमान नहीं कर सकते कि भारतवर्ष में ऐसे महान् साधु-संतों के समीप लोग किस प्रकार जाते हैं—कैसे वे उनके चारों ओर भीड़ जमा कर लेते हैं और उनके जीवनकाल में ही उन्हें देवतास्वरूप पूजते हैं। हजारों उनके पहने हुए वस्त्रों को ही छूने मात्र की प्रतीक्षा करते रहते हैं। दूसरों की अध्यात्मशक्ति को इस प्रकार श्रद्धाभाव से देखने से मनुष्य में स्वयं अध्यात्मशक्ति उत्पन्न होती है। जो कुछ मनुष्य चाहता है तथा जिसे मूल्यवान समझता है वही इस प्रकार से उसे मिल जाता है। यही हाल राष्ट्रों का भी है। यदि तुम भारतवर्ष में जाकर एक राजनीतिक भाषण दो तो वह चाहे जितना ओजस्वी क्यों न हो, तुम्हें वहाँ बहुत कम श्रोतागण मिलेंगे, परन्तु यदि तुम धर्म का प्रचार करने जाओ और इसके बारे में केवल शाब्दिक विवेचन ही न करो वरन् उसे स्वयं अनुभव करो तो सैकड़ों मनुष्य केवल उसे सुनने ही न आएंगे वरन् तुम्हारे चरण भी स्पर्श करेंगे।

जब लोगों ने यह सुना कि यह पवित्राचरणी पुरुष उन्हें शीघ्र ही छोड़कर चला जायगा तो वे उनके पास पहले की अपेक्षा और अधिकाधिक संख्या में आने लगे और मेरे गुरुदेव अपने स्वास्थ्य

की थोड़ीसी भी चिन्ता न करते हुए उन्हें निरन्तर उपदेश देते रहे। हम लोग भी उन्हें इस बात से रोक न सके। बहुत से लोग तो बड़ी बड़ी दूर से आते थे और मेरे गुरुदेव जब तक उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे लेते थे तब तक विश्राम नहीं करते थे। वह यही कहा करते थे—'जब तक मैं बोल सकता हूँ तब तक मैं उन्हें उपदेश देता रहूँगा।' और उन्होंने अपने कहने को सदा पूरा किया। एक दिन उन्होंने हम सब लोगों से कहा—'मैं आज इस शरीर का त्याग करूँगा' और वेदों के परम पवित्र शब्द ॐ का उच्चारण करते-करते वे महासमाधि में प्रवेश कर गये।

उनका सन्देश तथा उनके विचार ऐसे बहुत थोड़े लोगों को ज्ञात थे जो उनका प्रचार कर सकते। अन्य लोगों के अतिरिक्त वे कुछ युवक बालकों को, जो संसार में अपना सब कुछ छोड़ चुके थे तथा उनका कार्य चलाने को तैयार थे, अपने पीछे छोड़ गये। डाट-डपट द्वारा उनके घर वालों ने उन्हें उस मार्ग से हटाने के लिए भी बहुत प्रयत्न किया, परन्तु मेरे गुरुदेव के असामान्य जीवन द्वारा उनके हृदय में जो स्फूर्ति भर गई थी उसके कारण वे अचल बने रहे। वर्षों से उस परम मंगल विभूति के सहवास के कारण उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा। ये नवयुवक बालक संन्यासियों के सदृश रहते थे और उसी शहर की गलियों में जिनमें वे पैदा हुए थे भिक्षाटन करते हुए अपना कार्य करते रहे, यद्यपि उनमें से कई बड़े उच्च घरानों के थे। प्रथम तो उन्हें तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा, परन्तु उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा आर धीरे धीरे उस महान् पुरुष के दिव्य सन्देश

वे भारतवर्ष में दिन-प्रतिदिन फैलाने लगे, यहाँ तक कि सारा देश मेरे गुरुदेव के उपदेशों से गूँज उठा। बंगाल प्रान्त के एक दूर गाँव में पैदा हुए इस महापुरुष ने, जिसे पाठशाला में शिक्षा भी नहीं मिली थी, केवल अपने दृढ़ निश्चय से सत्य की उपलब्धि की तथा उसे दूसरों को प्रदान किया, और उसे जीवित रखने के लिए वे कुछ थोड़े से ही नवयुवक छोड़ गये।

आज भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम भारतवर्ष भर में लाखों पुरुषों को ज्ञात है। इतना ही नहीं वरन् उस महापुरुष की शक्ति भारतवर्ष के बाहर भी फैल गई है और इस संसार में सत्य के सम्बन्ध में अथवा आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में यदि मैं कहीं एक शब्द भी कभी बोला हूँ तो उसका सारा श्रेय मेरे गुरुदेव को है—भूलें केवल मेरी हैं।

श्रीरामकृष्ण का सन्देश आधुनिक संसार को यही है—धार्मिक मतों, आचारों, पंथों तथा गिर्जाघरों एवं मन्दिरों को महत्त्व मत दो। प्रत्येक मनुष्य में वास करने वाले चैतन्य तथा आत्मशक्ति की अपेक्षा इनका मूल्य कुछ भी नहीं है और जिस मनुष्य में जितनी ही आत्म-शक्ति बढ़ जाती है वह उतना ही जगत्कल्याण के लिए सामर्थ्यवान् हो जाता है। प्रथम उसी शक्ति को यत्नपूर्वक संचित करो, किसी में दोष मत ढूँढो, क्योंकि प्रत्येक धार्मिक मत तथा तत्त्व में थोड़ा-बहुत अच्छा अंश रहता ही है। अपने आचरण द्वारा यह दिखा दो कि धर्म का अर्थ न तो शब्द होता है, न नाम और न सम्प्रदाय वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति। जिन्हें अनुभव हुआ है वे ही इसे समझ सकते हैं। जिन्होंने आत्मशक्ति प्राप्त कर ली है वे ही उसे दूसरों को दे भी सकते

हैं तथा वे ही मनुष्य-जाति के श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं—वे ही इस संसार में ज्ञानज्योतिरूप शक्ति का संचार कर सकते हैं।

जिस देश में ऐसे मनुष्य जितने ही अधिक पैदा होंगे वह देश उतनी ही उन्नत अवस्था को पहुँच जायगा और जिस देश में ऐसे मनुष्य बिल्कुल नहीं हैं वह नष्ट हो जायगा—वह किसी प्रकार नहीं बच सकता। अतः मेरे गुरुदेव का मानव-जाति के लिए यह सन्देश है कि 'अध्यात्ममार्गी बनो तथा आत्मज्ञान प्राप्त करो।' वे चाहते थे कि तुम अपने बान्धवों के लिए स्वार्थत्याग करो। उनकी ऐसी इच्छा थी कि बन्धु-प्रेम के विषय में बातचीत बिल्कुल न करो वरन् अपने शब्दों को सिद्ध करके दिखाओ। त्याग करो, आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करो और फिर तुम देखोगे कि संसार के सब धर्म एक सूत्र में बँधे हुए हैं। तब तुम्हें प्रतीत होगा कि आपस में झगड़े की कोई आवश्यकता नहीं है और तभी तुम मानव-जाति की सेवा करने के लिए तैयार हो सकोगे। इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा देने के लिए कि सब धर्मों में मूल तत्व एक ही है, मेरे गुरुदेव का अवतार हुआ था। अन्य धर्म-संस्थापकों ने स्वतंत्र धर्मों का उपदेश दिया था और वे धर्म उनके नाम से प्रचलित हैं, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दि के इस महापुरुष ने किसी धर्म पर अपना दावा नहीं किया। उन्होंने किसी धर्म को धक्का नहीं पहुँचाया, क्योंकि उन्होंने अनुभव कर लिया था कि वास्तव में सब धर्म एक ही 'चिरन्तन धर्म' के भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण) मूल्य — ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग– मूल्य—७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—' विस्तृत जीवनी)— (द्वितीय संस्करण)– दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६);

७. **विवेकानन्दजी के संग में**–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, मूल्य ५।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. **भारत में विवेकानन्द**–(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान) ५)

९. **धर्मविज्ञान**	(प्रथम संस्करण)	१॥=)
१०. **कर्मयोग**	(प्रथम संस्करण)	१॥=)
११. **हिन्दू धर्म**	(प्रथम संस्करण)	१॥)
१२. **प्रेमयोग**	(द्वितीय संस्करण)	१।=)
१३. **भक्तियोग**	(द्वितीय संस्करण)	१।=)
१४. **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१५. **परिव्राजक**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१६. **प्राच्य और पाश्चात्य**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१७. **धर्मरहस्य**	(प्रथम संस्करण)	१)
१८. **शिक्षा**	(प्रथम संस्करण)	॥=)
१९. **शिकागो वक्तृता**	(चतुर्थ संस्करण)	॥=)
२०. **हिन्दू धर्म के पक्ष में**	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२१. **वर्तमान भारत**	(तृतीय संस्करण)	॥)
२२. **पवहारी बाबा**	(प्रथम संस्करण)	॥)
२३. **मेरा जीवन तथा ध्येय**	(प्रथम संस्करण)	॥)
२४. **मरणोत्तर जीवन**	(प्रथम संस्करण)	॥)

२५. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ**—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ॥=)

२६. **मेरी समर-नीति** (प्रथम संस्करण) ।≡)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण-चरित्र**—दो भागों में-प्रत्येक भाग का मूल्य—२॥।)

३. **श्रीरामकृष्णवाक्सुधा** (द्वितीय संस्करण) ॥।=)

४. **श्रीरामकृष्ण परमहंस देव यांचें संक्षिप्त चरित्र** -)॥

५. **शिकागो-व्याख्यानें** (द्वितीय संस्करण)—स्वामी विवेकानन्द ॥=)

६. **माझे गुरुदेव**—स्वामी विवेकानन्द ।)

७. **साधु नाग महाशय चरित्र** ॥।)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर, सी. पी.

तन्नो हंसः प्रचोदयात्